हमारा साहित्य
2005

नाटक विशेषांक





जे. एण्ड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू





हमारा साहित्य
2005
(नाटक विशेषांक : क्षेत्र जम्मू-कश्मीर)

संपादक
नीरू शर्मा



जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

प्रकाशित लेखों की रीति-नीति या विचारों से जे. एंड के. अकैडमी या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

हमारा साहित्य-2005 (नाटक विशेषांक : क्षेत्र जम्मू-कश्मीर)

प्रकाशक : जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू।

मुद्रक : रोहिणी प्रिंटर्ज़, कोट किशन चंद, जालंधर

प्रथम संस्करण : 2006

मूल्य : 50/-

HAMARA SAHITYA-2005

Edited by : **NEERU SHARMA**

संपादकीय

नाटक से अभिप्राय केवल नाटक या रंगमंच से नहीं, अपितु इसके अंतर्गत नाटक, रंग, वास्तु, अभिनय, रस, छंद, नृत्य, संगीत, अलंकार, वेश-भूषा, पात्र एवं दर्शक आदि आते हैं।

नाटक में क्रिया प्रधान होती है क्योंकि नाटक का सबसे प्रमुख अंग दृश्यांग ही होता है। यही कारण है कि नाटक पढ़ने, सुनने के साथ देखा भी जाता है। नाटक का मंचन ही उसे साहित्य की सर्वाधिक सक्रिय विधा बनाता है। इसी सक्रियता के कारण उसमें उठाए गए प्रश्न तीव्रता से दर्शक के मस्तिष्क में घर कर जाते हैं।

मानव के विविध रूप, उसकी सोच, उसके बाहरी एवं आंतरिक व्यक्तित्व की टकराहटें, चरित्र की परतें, उसके संघर्ष एवं दुविधाएं नाटक में विभिन्न कथा-वस्तु के माध्यम से दर्शायी जाती हैं। नाटककार और दर्शक के बीच एक गहरा संबंध होता है। जिसे बनाये रखना बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है। नाटक के माध्यम से दर्शक को एहसास की अनुभूति कराके लेखक मंचन कला द्वारा वापिस उसे नाटक के मूल में ले जाता है।

नाटककार नाटक सृजन के लिए कथानक को मानसिक धरातल पर बुनता है और फिर बड़ी सावधानी से उन घटनाओं का वर्णन करता है। जो सुगमता से मंचित हो सकें। यदि नाटककार उन घटनाओं का वर्णन करे जो नाटक का कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं करतीं तो नाटक शिथिल हो जाएगा। जिसे नाटक का दोष माना गया है। नाटककार को मंच के साथ जुड़ने की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि जब तक वह नाटक के हर पात्र की भूमिका, उसके हाव-भाव, मुद्राओं और व्यवहार को स्वयं मानसिक तौर पर नहीं भोगता, तब तक रचना का जीवंत और प्रभावपूर्ण होना संदेहास्पद ही रहता है। एक प्रभावशाली नाटक की रचना तभी हो पाती है। जब नाटककार हर पात्र का जीवन और उसका यथार्थ पहले स्वयं भोगे और मानसिक धरातल पर उस पात्र की भूमिका निभा ले।

प्रस्तुत अंक में हमने जम्मू-कश्मीर के नाटकों पर विवेचनात्मक आलेख संकलित किये हैं। इनमें जम्मू-कश्मीर के हिन्दी नाटक के साथ-साथ डोगरी, कश्मीरी, पंजाबी, उर्दू, गोजरी एवं लद्दाखी भाषाओं के नाटकों की भी विस्तृत जानकारी पाठकों, शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने की चेष्टा इस आशा से की है कि यह उनके लिए ज्ञानवर्धक होने के साथ-साथ लाभप्रद भी होगी।

नीरू शर्मा

इस अंक में

1.	जम्मू-कश्मीर का हिन्दी नाटक	डॉ० राजकुमार	5
2.	डोगरी एकांकी और नुक्कड़ नाटक : एक मूल्यांकन	मूल. मोहन सिंह अनु. नीरू शर्मा	13
3.	डोगरी-नाटक एवं रंगमंच	डॉ० सुधीर महाजन	33
4.	कश्मीर में नाटक लेखन परंपरा	मूल. मोती लाल क्यूम अनु. डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स	37
5.	कश्मीरी रंगमंच और नाटक	अवतार कृष्ण राज़दान	49
6.	जम्मू-कश्मीर के रेडियो पंजाबी नाटक : एक सर्वेक्षण	दीदार सिंह	59
7.	जम्मू-कश्मीर का पंजाबी नाटक एवं रंगमंच	बलजीत सिंह रैणा	67
8.	जम्मू-कश्मीर का पंजाबी नाटक : एक जायज़ा	मूल. इछुपाल अनु. नीरू शर्मा	88
9.	जम्मू-कश्मीर में उर्दू नाटक : एक जायज़ा	मूल. डॉ. मुहम्मद असदुल्लाह वाणी अनु. अज़रा चौधरी	95
10.	जम्मू-कश्मीर में उर्दू नाटक का इतिहास	मूल. डॉ. प्रेमी रोमानी अनु. नीरू शर्मा	103
11.	गोजरी नाटक : एक जायज़ा	मूल. मन्शा ख़ाकी अनु. नीरू शर्मा	110
12.	लद्दाखी नाटक : एक समालोचना	नवांग छेरिग शकस्पो	116

जम्मू-कश्मीर का हिन्दी नाटक

❑ डॉ० राजकुमार*

जम्मू-कश्मीर में हिन्दी नाटक का प्रकाशन 1960 ई. के उपरान्त ही आरम्भ होता है, हो सकता है लेखन पहले से हो रहा हो और रेडियो आदि से प्रसारित होता रहा हो। गद्यांजलि 1964 ई. में इस प्रदेश का प्रथम प्रकाशित एकांकी नाटक है - 'नयनाहुति,' लेखक हैं श्री गोपीनाथ कौशिक, कथानक का आधार है सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल की आँखें निकलवा देने का प्रसंग। एकांकी में ''पात्रों के मानसिक द्वन्द्व को न उभार कर संवादों द्वारा ही कथा कही गयी है। संवादों में पात्रों की अन्तर्वृत्तियां मर गयी हैं, पात्र मात्र कठपुतली हैं, जीवन की अपेक्षा आज्ञापालक-से।'' (डॉ. राजकुमार-जम्मू -कश्मीर का स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य, एक विवेचन)।

इसी दशक में विष्णु शर्मा रेडियो नाटक लिख रहे थे जो प्रकाशित नहीं हो सके; श्री नरेन्द्र खजूरिया के ''सात एकांकी'' शीर्षक से सात एकांकी प्रकाशित हुए और 'रास्ता, कांटे और हाथ' मंचित हुआ, 'प्यासी धरती' पर पहली डोगरी फिल्म 'गल्लां होइयां बीतियां' बनी और 'गहरी नदिया की धार' रेडियो से प्रसारित हुआ। ये तीनों नाटक 'रास्ता, कांटे और हाथ' शीर्षक से प्रकाशित हुए, परन्तु प्रकाशन वर्ष नहीं दिया गया।

1963-64 ई. में श्री मोती लाल क्यूम के बड़ौदा में लिखे एकांकी ''नंगे'' का मंचन हुआ, उनके एकांकी बी.बी.सी. लंदन से प्रसारित भी हुए और इस काल में लिखे उनके तीन एकांकी ''तीन असंगत एकांकी'', शीर्षक से प्रकाशित हुए। परन्तु प्रकाशन वर्ष नहीं दिया गया।

श्री सुतीक्ष्णकुमार आनंदम् ने श्री विद्याभूषण अग्रवाल के अनुसार संगीत रूपक 1966 में लिखा भावनाट्य 'भीनी-भीनी चली हवा' और 1968 में वसंत पंचमी पर 'बगिया में केसर फूला रे' (पद्य रूपक) भावनाट्य रेडियो से प्रसारित हुए। उपर्युक्त दोनों भावनाट्यों सहित दिसम्बर 1970 में लिखित उनका एकांकी नाटक यानि (Monologue) 'कांप-कांप रहा चक्रबन्धु' इसी नाम के संग्रह में प्रकाशित हुआ। दीपावली पर्व, 1971 को रेडियो से प्रसारित हुआ और भावनाट्य 'ज्योति पर्व' भी

---

* *हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, जम्मू*

इस संग्रह में सम्मिलित होकर 1972 ई. में प्रकाशित हुआ।

इसी तरह 1966 ई. में लिखा नाटक 'पागल' 1975 में 'सांझे मंच पर' नाम से प्रसारित हुआ और 1976 ई. में इसी नाम से मंचित भी हुआ। नाटक 'पागल' उर्फ़ 'सांझे मंच पर' को लेखक विष्णु प्रभाकर ने प्रतीकात्मक रंग एकांकी कहा है। 1975 ई. में लिखित इनका एक अन्य नाटक 'एक मुट्ठी धूप' 1976 ई. में और 1975 ई. में ही लिखा इनका अन्य नाटक 'आखरी पन्ने' 1977 ई. में रेडियो से प्रसारित हुए। 1981 ई. में तदोपरांत ये तीनों नाटक 'आखरी पन्ने' शीर्षक के अन्तर्गत संकलित और प्रकाशित हुए।

1967 में डॉ. ओम प्रकाश गुप्त के चार एकांकी ''युद्ध और शान्ति'' शीर्षक से प्रकाशित हुए, शायद ये एकांकी मंचित नहीं हो सके।

डॉ. ओम प्रकाश गुप्त के इन एकांकियों में इस सीमान्त प्रदेश के लोगों की मानसिकता को व्यक्त किया गया है। और उन्हें बाह्य आक्रामकों के विरुद्ध सचेत रहने की प्रेरणा दी गई है। इनमें देश-भक्ति और राष्ट्रनिर्माण की वृत्तियां उद्घाटित हुई हैं। इन एकांकियों के ऐतिहासिक पात्रों से जुड़ी घटनाओं की ऐतिहासिकता को परखने की अपेक्षा उद्देश्य परक भाव संदिति की ओर ध्यान दिया गया है।

युद्ध और शान्ति में अशोक की कलिंग विजय के प्रसंग को उठा कर उसके अहिंसक हो जाने की प्रक्रिया को उद्घाटित किया गया है। लेखक ने बौद्भिक्षुणी की कल्पना की है जो मानती है कि क्रोधावेश में सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता, 'वाहिनी शान्ति स्थापित नहीं कर सकती क्योंकि लहू से भीगी धरती में विप्लव के अंकुर ही फूटते हैं।'

एकांकी के संवाद चुस्त हैं। सूचनाओं और संवादों के साथ-साथ नेपथ्य के चीत्कार और नेपथ्य के गीतों द्वारा समुचित प्रभाव प्रस्तुत किया गया है।

इनके एकांकी 'सम्राट पृथ्वीराज' में पृथ्वीराज के मुख से कहलाया गया है कि ''भेदभाव ने वीर मां को बेड़ियां में जकड़ दिया है, प्रांतीयता से ऊपर उठकर जब भारतवासी एक देश, एक राष्ट्र, एक पथ से एक लक्ष्य की ओर बढ़ेंगे तभी मां स्वतंत्र होगी, तभी मां स्वतंत्र रह पाएगी।'' इस एकांकी में कवि चन्द भी 'भारत माता की जय' का नारा लगाता है।

इनके एकांकी 'लोहे से लोहा' में शिवा जी को उनके समर्थ गुरु रामदास समझा रहे हैं कि उसके सैनिक मातृभूमि की रक्षा हेतु और उसकी स्वतंत्रता के लिए

बलिदान के इच्छुक हों, धन विपासु नौकर नहीं। (वही पृ० 126)।

एकांकी के संवाद काफी लम्बे हैं, परन्तु हैं कथ्य उद्घोषक। एकांकी में देश भक्ति, उदात्त लक्ष्य तथा निःस्वार्थ संघर्षशक्ति के लिए उत्साहित किया गया है।

सीमान्त प्रदेश की मानसिकता की अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका एकांकी 'होली' विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमें स्वतंत्रता के बाद से देश की उन्नति में अवरोधक हो रही विदेशी ताकतों के विरुद्ध एकजुट हो जाने की प्रेरणा दी गई है। तथाकथित 'आज़ाद कश्मीर' से आने वाले घुसपैठियों की मक्कारी से परिचय कराया गया है, जिन्हें बरगला कर भारत में लूटपाट करने, फसलें जलाने, स्कूल, कालेज, अस्पताल तोड़ने भेजा जाता है। जब भारतीय उन्हें शरण नहीं देते तो उन्हें गोली से उड़ा दिया जाता है। स्थिति यह है कि घुसपैठिए भी जब यहां के लोगों की खुशहाली और देशभक्ति देखते हैं तो उनकी आँखें खुल जाती हैं और वे अपने ही सरदार को गोली मार देते हैं। भारतीय ग्रामीण इस शहीद किसान राम हसन की बेटी के पालनपोषण का जिम्मा ले लेते हैं। एकांकी के गीतों और कविताओं द्वारा देशभक्ति और राष्ट्रनिर्गाण की भावनाओं को संयोजित किया गया है।

डॉ. ओम प्रकाश गुप्त के उपर्युक्त एकांकियों में राष्ट्रीय आदर्शों के अन्तर्गत देशभक्ति की प्रेरणा दी गई है। गीतों और कविताओं ने उनके उद्देश्य को अच्छी तरह से सम्प्रेषित किया है। भाव, शिल्प और उद्देश्य की दृष्टि से सीमान्त प्रदेश की मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में अच्छे एकांकी हैं।

नरेन्द्र खजूरिया के नाटक संग्रह 'रास्ता, कांटे और हाथ' का प्रकाशन वर्ष नहीं दिया गया परन्तु लगता है कि ये नाटक पाकिस्तान द्वारा किए गए आक्रमण 1965 ई. से पहले के हैं क्योंकि युद्ध के भय की अपेक्षा 'रास्ता, कांटे और हाथ' नाटक में देश के नव-निर्माण की भावना को गूंथा गया है, जीवन-दृष्टि आदर्शवादी है जो हृदय परिवर्तन के लिए प्रेरित करती है, धर्म और कर्मकाण्ड के माध्यम से लोगों को ठगने वाले ढोंगियों, पाखण्डियों और धूर्त्तों पर सीधी चोट की गई है। नाटक सुखांत है।

कथानक संयोजन सुदृढ़ है। जो सद् के खिलाफ असद् पात्रों के षड्यंत्रों, पात्रों की घबराहट और क्रियाशीलता के रूप में भावोत्कर्ष की ओर बढ़ता है। संघर्ष की स्थितियां स्वाभाविक हैं। तीन अंकों में विभाजित इस नाटक के प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं, परन्तु दृश्य विभाजन बड़ा ही मामूली है, पात्र अपनी भूमिका का निर्वाह करके दरवाज़े से निकल जाता है और दूसरा आ जाता है। इस तरह समूचा

नाटक बिना व्यवधान के पूर्ण रोचकता और कार्यगत निरंतरता को लिए हुए चरमोत्कर्ष पर पहुंचता है। ''यदि त्रुटि है तो यही कि सद् पात्रों की मदद कोई अज्ञात शक्ति ही कर रही है। परिस्थितियां कुछ ऐसी घटित हो जाती हैं कि वे असद् पात्रों की क्रूरता, कपट और षड्यंत्रों का शिकार नहीं होते और बिना कोई संघर्ष किए असद् पात्रों को उनके कुकर्म का फल दिला देते हैं। उनके हाथ में कथानक विकास का सूत्र लगभग नहीं है, न ही वे स्वयं को Defend करते हैं।'' (वही पृ० 129)

'गहरी नदिया की धार' नाटक में भी देश के नव-निर्माण के पथ की अवरोधक शक्तियों का परिचय दिया गया है, इन शक्तियों की षड्यंत्रकारिणी बुद्धि और कुकर्म अभिव्यक्त हुए हैं। जब नदिया पर पुल बनाने का विरोध कर रहे रसिया की मंगेतर फूल उसकी परवाह नहीं करती, तो रसिया अपने होने वाले साले गंगुआ के साथ मिलकर षड्यंत्र करता है और पुल जलवाने का यत्न करता है, गंगुआ बहकावे में आकर अपनी बहन फूलां को नदी में गिरा देता है, तभी पुलिस आ जाती है। रसिया और गंगुआ पकड़े जाते हैं। ''फूलां की बलि सहित पुल बनाने का जन-यज्ञ पूर्ण होता है।'' (वही पृ० 130)

नाटक में भोजपुरी भाषा का और भोजपुरी गीतों का उपयोग किया गया है। पात्रों के चरित्र स्थिर से होकर रह गये हैं। जन-कल्याण के कर्म में व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष की कुवृत्तियाँ ही आड़े आ रहीं हैं। रसिया इन्हीं कुवृत्तियों का प्रतीक है।

''बड़ा सुखद आश्चर्य है कि 'रास्ता, कांटे और हाथ', 'गहरी नदिया की धार' के रसिया जैसा ही अपराधी, कामुक, षड्यंत्रकारी खलनायक रसिया है। नाम के अनुरूप तबीयत से भी वह रसिया ही है। 'रसिया' दोनों नाटकों में टाइप्ड खलनायक बन गया है।'' (वही पृ० 130-131)

'प्यासी धरती' नाटक की अपेक्षा फ्लैश-बैक में लिखी कहानी प्रतीत होता है जिसके कथानक में लोक-साहित्य के कथा-अभिप्राय का संयोजन हुआ है। इस क्षेत्र में फ्लैश-बैक पद्धति के सहारे नाटक लिखने का पहला प्रयोग इन्होंने ही किया है। नाटक के ''संवाद बड़े चुस्त और भावोत्कर्ष हैं, उद्देश्य जन-कल्याण और नव-निर्माण के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने की उदात्त भावना को स्पष्ट करता है।'' (वही पृ० 131)

श्री मोती लाल क्यूम के संग्रह 'तीन असंगत एकांकी' का प्रकाशन वर्ष नहीं दिया जबकि ये एकांकी 1963-64 ई. के लिखे हुए हैं।

'दर्पण अन्तःपुर का' व्यंग्य प्रधान एकांकी है जिसमें हास्य और व्यंग्य का पुट देकर लोकराज्य पर चोट की गई है। भाण्डों की शैली जैसे हास्य-व्यंग्य और असंगति-कथन आदि के सहारे प्रजातंत्र की शासन-प्रणाली और राजकीय-व्यवस्था की खामियों पर अच्छा व्यंग्य किया गया है। नाटक का लोकराज्य व्यक्तिपूजा और सामन्ती वृत्ति से ग्रस्त है। राजा, महामंत्री, रानियां सभासद सभी मूर्ख हैं जो प्रथा-पालन के नाम पर अनेक अनर्गल और असंगत कार्य करते हैं, इन कार्यों में उनके मिथ्य अहंकार दृष्टिगोचर होते हैं। ये सभी चोरी, रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद कमीशनखोरी में गले तक डूबे हुऐ हैं। नाटक में कभी राजा, कभी रानियां, कभी महामंत्री, कभी सभासद् चोर के रूप में सामने आते हैं।

नाटक में लोकशैली और लोकरंग के उपयोग द्वारा विसंगति का चित्रण किया गया है, ''जिसमें कथानक का कोई महत्त्व नहीं और न ही नाटक के कथानक गठन की ओर ध्यान दिया गया है बल्कि प्रयोगधर्मी इस नाटक में मौजूदा जनजीवन की सभी समस्याएं और विसगतियां एक ही मंच पर प्रस्तुत हो गई हैं।'' (वही पृ० 133)

'सन्ध्या बीती' एक समस्याप्रधान नाटक है। महंगाई भाषा की अर्थहीनता, नेता और प्रशासन की मिलीभगत, लेखकों-शायरों का व्यवस्था के प्रति समझहीन विद्रोह, सरकारी कल्याण-योजनाएं, नगरीकरण और अजनबियत, शहीदों के प्रति दिखावटी श्रद्धा और सम्मान, अनाथ औरतों के प्रति व्यभिचार की वृत्ति, दिखावटी दबदबा, व्यक्ति की नामहीनता, अस्तित्व का नकार और चतुर्दिक फैला संत्रास आदि अनेक जीवनगत समस्याओं और विसंगतियों को एक साथ नाटक में नियोजित कर दिया गया है। अंग्रेजी शब्दों के अर्थ पूछना और बात को उलझा देना वस्तुतः भाषागत विसंगति के साथ-साथ अगंभीरता पैदा करता है और लोगों की लापरवाही पर व्यंग्य करता है। अगंभीर वाक्यों को नाटकीय उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया गया है।

'नंगे' नाटक की मूल समस्या है-आदमी की पहचान का खत्म होते चले जाना। कल्पना की गई है कि रेलगाड़ी के बाथरूम में घुसे आदमी का सामान उसके साथ बैठी कोई लड़की उतार लेती है और उसके लिए तौलिया छोड़ जाती है। उस नंगे आदमी को बगैर टिकट समझ कर पुलिस चौकी लाया जाता है। वह खुद को निर्दोष साबित करने के लिए बहुतेरे तर्क देता है, उस अर्द्ध नग्न की स्थितिजन्य फूहड़ता भी उसे बेकसूर सिद्ध कर रही है परन्तु पुलिस उस पर विश्वास नहीं कर रही। ''उसके कपड़े, बाक्स, बिस्तर, टिकट, सर्टीफिकेट पूरा-का-पूरा व्यक्तित्व चुरा लिया गया है, जिसके बिना वह अधूरा है।''

व्यंग्य यह है कि ''आदमी का समूचा व्यक्तित्व और अस्तित्व उसकी वेशभूषा, उसके सर्टीफिकेट आदि बाह्य-वस्तुओं में ही सिमट कर रह गया है, इन बाह्य-वस्तुओं के बिना उसका वर्चस्व, बुद्धि, प्रतिभा, संघर्ष-चेतना का नकार हो रहा है, उसे पागल-सा करार दे दिया जाता है।'' (वही पृ० 135)

लेखक अगंभीर वाक्यावली द्वारा स्थिति पर चोट करता चलता है, नाटक में संवाद की अपेक्षा जोश और तर्क के सामंजस्य के आधार पर बुनी गई चर्चा का विशेष महत्त्व है, यह चर्चा रोचक तो है ही विचारोत्तेजक भी है।

मोती लाल क्यूम के ये तीनों नाटक जम्मू-कश्मीर कि नाटक विधा की सशक्त उपलब्धि हैं, प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से भी और नये भावबोध की दृष्टि से भी। क्यूम को प्रदेश का नयी शैली और संवेदना का प्रथम नाटककार मान लेने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

श्री सुतीक्ष्ण कुमार आनंदम् के 1972 ई. में प्रकाशित 'कांप-कांप रहा चक्रबन्धु' के नाटकों को पद्य रूपक भी कहा गया है और संगीत रूपक भी 'कांप-कांप रहा चक्रबन्धु' को छोड़ कर वास्तव में ये भावनाट्य हैं। 'ज्योति पर्व' को काव्यनाटक कहा गया है परन्तु इसे इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। क्योंकि अभी तक यह मंच पर नहीं खेला गया।

'भीनी-भीनी चली हवा' भावनाट्य है इसमें पावस ऋतु के गीतों में विरह व्याकुल संगीतकार की पीड़ा चित्रित हुई है। संगीतकार के संदेश में कालीदास के यक्ष की छाया झलक जाती है। नाट्य के अंतिम गीत में मिलनाकांक्षा बलबती हो उठी है।

'बगिया में केसर फूल रे' साधारण पद्यरूपक है जिसमें संयोग-वियोग की मन:स्थितियों का चित्रण वसंत के प्ररिप्रेक्ष्य में हुआ है।

'कांप-कांप रहा चक्रबन्धु' में नाटककार मूलत: मृत्यु से भयभीत है, चारों दिशाएं जो इन्द्रधनुषी रंगों में अनुराग बांटा करती थीं, अब भयदायिनी और विकराल हो रहीं हैं, वह चिंतित है कि संसार से उसका भौतिक सम्बन्ध टूट जाएगा? क्या अब वह नहीं रहेगा?

''जीवन के यथार्थ अनुभव और सांसारिक छल-कपट, स्नेह, तृष्णा, घुटन, अकेलेपन की तीव्र अनुभूतियों का सार्थक बिम्बों में यहां चित्रण हुआ है। यही गीति नाट्य उसकी उत्कृष्ट रचना है।'' (वही पृ० 142)

'ज्योतिपर्व' भाव-अभिव्यक्ति की दृष्टि से अच्छा भावनाट्य है जिसमें नदी को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योंकि उसकी उत्प्रेरणा से शव भी शिव हो जाता है। ज्योतिपर्व है ही लक्ष्मी शक्ति विजय का पर्व। नारी ही लक्ष्मी है, शक्ति है परन्तु कुछ ऐसी नारियां भी हैं जो अबलाओं का जीवन बिता रही हैं क्योंकि समस्त सीमा प्रदेश और सारा बंग भाग आग की लपटों में घिरा हुआ है। बंगलादेश के स्वतंत्रता संघर्ष को यहां मानव-मात्र का स्वतंत्रता-संघर्ष मानकर ज्योतिपर्व के दीपकों को भ्रातृ-भाव को समर्पित किया गया है। "ये दीप कलह, तम, पाप, पाश्विकता, दानवता को नष्ट करते हैं और प्रत्येक उपेक्षित के लिए समर्पित हैं।" (वही पृ० 273)

'कांप-कांप रहा चक्रबन्धु' के नाटकों में आनन्दम् नाटककार की अपेक्षा कवि, गीतकार ही प्रतीत होता है। 'आखरी पन्ने' में संकलित इसके तीनों नाटक रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं और मंचित भी हुए हैं 'पागल' उर्फ़ 'सांझे मंच पर' 1966 ई. में लिखा गया नाटक है। यह समय भारतीय जीवन में मरणधर्मा वृत्तियों ऊब, घुटन, संत्रास आदि का युग है। "नाटक में व्यक्तिगत लोभ, मोह, अहंकार और दिखावे की अंधवृत्तियों के कारण मानव-मूल्यों में पैदा हो रहे विघटन, ऊब, घृणा और जीवनहीनता पर व्यंग्य किया गया है। अपनी-अपनी डफली, अपना अपना राग से उपजी विसंगत स्थितियों को असंगत क्रियाओं और आवाज़ों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। पात्र संख्या सीमित है, रंगमंच की दृष्टि से सफल नाटक रहा है, दृश्य परिर्वतन भी सुगमता से हो सकता है। व्यंग्य, उपहास और दुविधा की बुनाई संवादों में हुई है।

"नाटक में तिलस्मी ढंग से एक श्वेत वसना चतुर्भुज स्त्री प्रकट होती है जिसके एक हाथ में धान, एक में पुस्तकें, एक में त्रिशूल और एक में पुष्प हैं। फिर वही स्त्री द्विभुजा रूप में परिवर्तित हो जाती है। वह भिक्षुणी है, जीवन की संचारिणी है उससे कुछ भी गोपनीय नहीं। वह जानती है कि लोग जी नहीं रहे हैं, जीवन के धोखे में मरण भोग रहे हैं, अकारण और असामयिक मरण क्योंकि उनकी गति मुर्दों की सी है क्योंकि जब तक सही व्यक्ति को उसका प्राप्य नहीं मिलेगा, किसी को जीवन का संचार भी नहीं मिलेगा।" (वही पृ० 275)

'एक मुट्ठी धूप' नाटक समाज में फैले भ्रष्टाचार, स्मग्लिंग, साहुकारों द्वारा शोषण के विरुद्ध निर्धन परन्तु आदर्शवान नवयुवकों की संघर्षगाथा है। जनकल्याण और राष्ट्र निर्माण के प्रति उत्सुक नवयुवक-नवयुवतियों को कहा गया है कि 'सारे आकर्षण के बावजूद अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिए बढ़ते जाना, चलते जाना

और विश्राम से पहले ही अपने संकल्प को पूरा कर लेना चाहिए।' (वही पृ० 275) निर्धन युवक पढ़ कर कुछ बन जाना चाहता है परन्तु अमीर साहूकार की बेटी उससे विवाह कर लेने की जिद्द कर रही है, युवक लड़की के पिता का कर्जदार है और कुण्ठित भी है परन्तु जब लड़की का पिता स्मगलिंग के केस में फंस जाता है और धनहीन हो जाता है तो लड़की-लड़का परस्पर मिल जाते हैं ''मैं वहीं जाऊंगी जहां मुझे गांव की एक मुट्ठी धूप का सुख मिलेगा। हां जगदीश। गांव में मुझे खुली हवा में सांस लेने के अवसर मिलेंगे।'' (वही पृ० 271)

'आखरी पन्ने' नाटक में निस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा करने की प्रेरणा दी गई है। हस्पताल के वातावरण को अच्छा बुना हुआ है। प्रमुख पात्र विनोद ऊंची से ऊंची कीमत में भी गुर्दा बेच सकता था परन्तु वह अपना गुर्दा देश के भविष्य निर्माता अध्यापक के जीवन की रक्षा के लिए देता है। इस नि:स्वार्थ बलिदान के फलस्वरूप उसे प्रशंसकों से जो धन मिलता है वह उससे अपंगों के लिए वार्ड का निर्माण करवा देता है। उसके इस बलिदान का सम्मान करती हुई हस्पताल की नर्स उपमा उसे अपना प्यार देती है। उपमा के इस समर्पण से विनोद के उपन्यास का आखरी पन्ना पूरा हो जाता है। भावुकता के बावजूद नाटक काफी प्रभावित करता है। भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का अच्छा नियोजन हुआ है, आदर्श प्रधान नाटक है।

जम्मू कश्मीर में 2000 ई. तक प्रकाशित इतने ही नाटक उपलब्ध हैं। वैसे आनंदम् के कुछ और नाटक भी हैं 'धुंध के घेरे' और 'मेरा घर' के अतिरिक्त एक अन्य नाटक है (शायद) 'ताकन लागे काग', इधर सुधीर महाजन का भी एक नाटक मंचित हुआ है। फिलहाल उपयुक्त इन नाटकों के प्रति कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूं, फिर कभी सही।

ooo

डोगरी एकांकी और नुक्कड़ नाटक-एक मूल्यांकन

❑ मूल० : मोहन सिंह
❑ अनु. : नीरू शर्मा

एकांकी और नुक्कड़ नाटक दोनों अलग-अलग और स्वतंत्र विधाएं हैं। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। पर कहीं-कहीं इनमें समानताएं भी दिखाई देती हैं। एकांकी बंधन में बंधा हुआ किसी खास केंद्र का निर्वाह करता हुआ दिखाई देता है, जबकि नुक्कड़ नाटक बंधन मुक्त हो बगावत का बिगुल बजाता है। एक ही घटना या कहानी पर आधारित होने के अतिरिक्त इनमें सबसे बड़ी समानता यह है कि यह दोनों विधाएं बीती सदी की देन है और लगभग डेढ दशक के आगे-पीछे इनका जन्म हुआ है।

डोगरी में नुक्कड़ नाटक के नाम पर हमारे पास ज़्यादा सरमाया नहीं है पर एकांकी साहित्य डोगरी में इतना है कि हम इस पर संजीदगी से बात कर सकते हैं।

एकांकी यानि वन एक्ट प्ले आधुनिक युग की देन है और आधुनिक युग या आधुनिकता को विश्व-भर में फैलाने और बांटने में पश्चिम का योगदान है, इसीलिए एकांक़ी को भी पश्चिम की देन माना जा रहा है। जबकि संस्कृत-साहित्य में भी एक अंकी नाटक लिखे गये हैं। पर आज का एकांकी पश्चिम से प्रभावित दिखाई देता है।

एकांकी का जन्म 1903 में लूई पार्कर द्वारा डब्ल्यू. डब्ल्यू. जाकोबज़ (W.W. Jacobs) की कहानी Monkey's Paw के नाट्य रूपांतर के साथ माना जाता है। चाहे इससे पहले भी पश्चिम में Certain Raiser के तौर पर छोटे-छोटे नाटक खेले जाते थे पर वे नाटक रहस्यवाद से प्रेरित होने या नीतिपरक होने के कारण साहित्य का हिस्सा न बन सके।

व्यस्तता के कारण मनुष्य की रूचि में भी बदलाव आया। जिससे उपन्यास के स्थान पर कहानी और फिर लघुकथा और नाटक के स्थान पर एकांकी ने अपना आधिपत्य जमा लिया। इस जनरुचि को देखते हुए शॉ गाल्सवर्दी, इब्सन, काकमैन, सिंज, लेसिंग, आस्कर, वाइल्ड, चेखब, गोर्की, इलियट, सार्थ, जॉन ड्रिंकवाटर, टालस्टाय जैसे लेखकों ने इस विधा को समृद्ध और प्रतिष्ठित किया।

हिन्दी में भी यह विधा पश्चिम के माध्यम से आई और इसका शुभारंभ 1930 में डॉ रामकुमार वर्मा के एकांकी ''बादल की मृत्यु'' के प्रकाशन के साथ हुआ। चाहे इससे पहले भी एक अंकी नाटक लिखे जा रहे थे पर वे पश्चिमी शैली और सिद्धांत पर पूरे नहीं उतरते।

डोगरी एकांकी के कला-शिल्प और रुझान को लेकर कभी-ना-कभी, कहीं-ना-कहीं वाद-विवाद तो अवश्य ही हुआ होगा पर उस वाद-विवाद को शायद हम कलमबंद करने से चूक गए हैं। इस विषय पर बतौर संपादक ज़्यादा काम डॉ. ओम गोस्वामी जी का ही दिखाई देता है। वैसे ''डोगरी गद्य दा विकास, साढ़ा साहित्य (हमारा साहित्य) 1977 में डॉ. वीणा गुप्ता जी ने भी डोगरी एकांकी पर लेख लिखा है। जितेंद्र शर्मा जी ने ''डुग्गर दी नाट्य परंपरा पंजरंग'' और ''हीखी इक डोगरी एकांकी'' लेख के माध्यम से योगदान दिया है। डॉ. जितेन्द्र उधमपुरी जी का ''डोगरी साहित्य दा इतिहास'' भी उल्लेखनीय है। कुल मिलाकर सारी बातें डोगरी एकांकी को 1935 में लिखे गये विश्वनाथ खजूरिया जी के ''अछूत'' के साथ जोड़ती हैं। आज हमारे सामने जो नया एकांकी संग्रह छप कर आया है वह ''साढ़ा साहित्य'' का एकांकी विशेष अंक 1997 है।

डोगरी में जितने भी एकांकी प्रकाशित हुए हैं उन्हें पढ़ने का पूरा यत्न किया है, चाहे वे हास्य एकांकी के अंतर्गत शीराज़ा 1971 में छपा कुलभूषण चन्द कायस्थ जी का ''मुबारिक होए'' एकांकी न होकर एक लेख मात्र ही क्यों न हो।

1935 में श्री विश्वनाथ खजूरिया जी ने ''अछूत'' लिखा और जो रामनगर में मंचित भी हुआ। विद्वानों के मतानुसार ''अछूत'' को ही डोगरी का पहला एकांकी माना जा सकता है।

''अछूत'' छूत-छात, पहाड़ी-रोग और भोले-भाले लोगों को ठगने, सचेत करने और उनकी स्त्रियों के यौन-शोषण की समस्या को लेकर अंध-विश्वासों को तोड़ता, बराबरी और नई सोच की वकालत करता 1935 के उस डोगरा समाज का चित्र प्रस्तुत करता है जहां बैठने के आसन भी पवित्र और अपवित्र थे। ठेठ राम नगरी, बसंतगढ़ी (डोगरी) में लिखा गया ''अछूत'' उस समय का एक साहित्यिक कदम है, जिसका नुकसान विश्वनाथ जी को झेलना पड़ा था। उच्च वर्ग ने उनका हुक्का-पानी तक बंद कर दिया था। ये बातें ''अछूत'' की सफलता की ओर संकेत करती हैं। पर यदि शिल्प की दृष्टि से संकलन-त्रय के चौखटे में रख कर ''अछूत'' को परखा जाए तो पता चलता है कि न तो स्थान एक है और न ही समय। शाह की दुकान, बाजार, बावा सुरगल का थान '(स्थान), बजिये का घर, डाक्टर की डिस्पैंसरी ये सब 'अछूत' में

स्थान परिवर्तन हैं। इसी तरह एकांकी में समय भी एक-सा नही रहता। उसमें काफी अंतराल आता है। हाँ, समस्या के बारे में कहा जा सकता है कि समस्या मूल-रूप में पिछड़ी जाति पर होने वाले अत्याचार से संबंधित है और उसके विस्तृत ब्यौरे के कारण "अछूत" एकांकी के घेरे में से निकल कर नाटक या लघु नाटक की श्रृंखला में अपना स्थान बना लेता है। "अछूत" डुग्गर के लोक-मंच से भी प्रभावित दिखाई देता है।

जैसे पश्चिम में बड़े नाटक के मंचन से पहले छोटे नाटक या झलकियां दिखाने की प्रथा थी, वैसे ही हमारे डुग्गर में भी रामलीला में दृश्य परिवर्तन के दौरान एक हास्य झलकी प्रस्तुत करने का चलन था। मजे की बात यह है कि दूर-दराज के इलाकों में भी ठेठ उर्दू-हिन्दी में होने वाली रामलीला के दृश्य-परिवर्तन के बीच ठेठ डोगरी में झलकियां दिखाई जातीं, जो दर्शकों को हंसी-ठिठोली में उलझा कर दृश्य-परिवर्तन में लगने वाले समय की ओर से उनका ध्यान हटा देतीं। जिस रामलीला मंडली के पास मंझे हुए हास्य-कलाकार होते, वहीं दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ती। ये झलकियां डुग्गर की लोक-नाट्य परंपरा "भगतां" से प्रभावित थीं। "अछूत" पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव झलकता है। बहुत से एकांकीकार शायद यह भी निर्णय नहीं कर पाए थे कि पश्चिम में जन्मी इस विधा को हू-ब-हू लेना चाहिये या नहीं। विश्वनाथ खजूरिया जी ने भी शायद इसी उधेड़-बुन में 'अछूत' एकांकी की रचना की थी। इसलिए उनकी यह कोशिश महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पूरी तरह से एकांकी कहलाने की हकदार नहीं है।

इसके उपरांत काफी समय बाद नाटकों की श्रृंखला में प्रो. रामनाथ शास्त्री जी के 1948 में मंचित हुए नाटक "बावा जित्तो" का नाम आता है। वह नाटक यदि प्रकाशित होता तो शायद शास्त्री जी का "बावा जित्तो" नाटक और एकांकी में एक चर्चा का विषय बनता। पर ऐसा न हो सका और हमें साढ़ा साहित्य 1963 तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। श्री के. एस. मधुकर जी के संपादन में "साढ़ा साहित्य" 1963 में तीन एकांकी प्रकाशित किये गये। प्रो. रामनाथ शास्त्री जी का "बरांडी", श्री जितेन्द्र शर्मा जी का "कर्तव्य", और श्री के. एस. मधुकर जी का "लैहरां"।

प्रो. रामनाथ शस्त्री जी का "बरांडी" और श्री जितेन्द्र शर्मा जी का "कर्त्तव्य" एकांकी देश-प्रेम की भावना के साथ-साथ एक सशक्त और अपने समय की क्रांतिकारी कहानी एवं नई सोच का स्वागत करते हुए आगे कदम बढ़ाते हैं। दोनों एकांकियों के नायक फौजी हैं। अंतर मात्र इतना है कि "बरांडी" का परिवेश ठेठ ग्रामीण है और "कर्त्तव्य" का ठेठ शहरी। "बरांडी" में नायिका की सास चाहती है कि उसकी बहू देवर के साथ चादर-अंदाजी कर ले। क्योंकि हमारे यहाँ इस प्रथा का चलन आम है और देवर जो स्वयं भी फौजी है, वह भी यही चाहता है की भाभी

उसके साथ रहे। ''कर्त्तव्य'' में इस बात के लिए एक नाटकीय घटना का सहारा लिया गया है और नायक के दोस्त से नायक का हवाला देकर यह बात कहलवाई गई है।

''बरांडी'' सहज और यथार्थवादी परिस्थितियों और घटनाओं को लेकर आगे बढ़ता है। इसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण है। वहीं ''कर्त्तव्य'' नाटकीय और सिनेमा जैसा प्रभाव छोड़ता है। शिल्प की दृष्टि से यह भी एक सफल एकांकी है और डोगरा समाज का एक सही चित्र पेश करता है। जानकी, माया, रूपा, ईशर बिल्कुल आम और सजीव पात्र हैं।

इसी संग्रह में छपा तीसरा एकांकी ''लैहरां'' एकांकी नहीं अपितु एक संगीत रूपक है। 1963 के ''साढ़ा साहित्य'' के बाद काफी समय तक चुप्पी छाई रही और इस चुप्पी को शीराज़ा 1966 के दिसंबर अंक ने नरेन्द्र खजूरिया का ''ऐतवार दी सैर'' एकांकी को प्रकाशित कर तोड़ा। इसी वर्ष ''सत्त डोगरी नाटक'' नाम से जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी की ओर से एक एकांकी संग्रह प्रकाशित किया गया।

1966 के शीराज़ा दिसंबर अंक में श्री के. एस. मधुकर जी के संपादन में प्रकाशित हुआ। नरेन्द्र खज़ूरिया जी का एकांकी ''ऐतवार दी सैर'' एक मध्यम श्रेणी के नौकरी पेशा व्यक्ति की कहानी है, जिसकी पत्नी उमा ''ऐतवार'' (रविवार) को उसके साथ नहर पर पिकनिक जाना चाहती है। इसलिए वह सुबह-सुबह तैयारी करने में जुटी हुई है और उसका पति दिवाकर निश्‍चिंत सोया हुआ है। उमा के उठाने पर उसे याद आता है कि आज उन्होंने पिकनिक पर जाना है।

एक समय था जब गर्मियों में नहर पर पिकनिक जाना एक बहुत बड़ी बात थी। तब मानसर, सन्नासर या पत्नीटाप जाने का चलन नहीं था। घर-घर कूलर, ए.सी. नहीं थे। उस समय नहर ही वह जगह थी जो कूलर, ए.सी. या किसी हिल स्टेशन-सा एहसास कराती थी। एकांकीकार ने बड़े ही हल्के-फुल्के अंदाज़ में इस गंभीर समस्या को हमारे सामने रखा है। एकांकी आरंभ से ही पाठक और दर्शक को हंसाने कें लिए तैयार कर देता है। इसके संवाद चुस्त, वातावरण अनुसार एवं प्रभावशाली हैं। एकांकी में बड़ी सहजता एवं सरलता से घटना घटती है। चाहे 'दुखिआ' का आना और कविता सुनाना हो, चाहे मास्टर का आकर राय लेना हो। कहीं भी बनावटीपन नहीं है। उमा की सहेली प्रेम का आना भी स्वभाविक ही है। इस एकांकी को हम सफल एकांकी कह सकते हैं।

इसी वर्ष 1966 में ही 'सत्त डोगरी नाटक' प्रकाशित हुए इसका संपादन नरेन्द्र खजूरिया जी ने किया था। इसमें 1. ''नाथी दा होटल''- श्री रामनाथ शास्त्री,

2. ''नीच''-श्री मदन मोहन शर्मा, 3. ''हीखियां''-यश शर्मा, 4. ''मोर्चे उप्पर''-कवि रत्न खजूरिया, 5. ''वीर जोरावर सिंह''-श्री डी.सी. प्रशांत, 6. ''कर्त्तव्य''-श्री जितेन्द्र शर्मा, 7. ''प्यासी धरती''- स्व० नरेन्द्र खजूरिया।

ये एकांकी हिन्द-पाक युद्ध के बाद लिखे गये। इसलिए लेखकों ने इनमें युद्ध के प्रभाव को अपने तरीके से कलमबंद करने का प्रयत्न किया है। इनमें 1962 के हिन्द-चीन एवं 1965 के हिन्द-पाक युद्ध से उत्पन्न देश-प्रेम और बलिदान के जज़्बे की कहानी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। प्रो. मदन मोहन शर्मा जी का एकांकी ''नीच'', यश शर्मा जी का ''हीखियां'', कविरत्न खजूरिया जी का ''मोर्चे उप्पर'' इस बात की निशानदेही करते हैं। जितेन्द्र शर्मा जी के ''कर्त्तव्य'' का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

''नीच'' की बोबो अपने देश के लिए विभाजन के समय बिछुड़े हुए अपने पति को भी मारने से पीछे नहीं हटती। वर्षा में तेज़ प्रवाहित नाले को लांघ कर साधु का भेस धारण कर आये अपने जासूस पति को मार देती है। और अपनी मांग का सिंधूर पोंछकर, धरती माँ की रक्षा के लिए अपना योगदान देती है।

एकांकी का ताना-बाना इस प्रकार बुना गया है कि कहीं भी कुछ अटपटा नहीं लगता। एकांकी का आरंभ बड़े रहस्यमय ढंग से होता है और अंत तक उत्सुकता सी बनी रहती हैं। इसके पात्र सजीव हैं।

देश-प्रेम और बलिदान के जज़्बे को लेकर लिखा गया 'मोर्चे उप्पर'-कविरत्न खजूरिया जी का एकांकी रंगमंचीय कौशल की तसदीक करता है। यह एकांकी 1962 के चीन के आक्रमण से प्रभावित दिखाई देता है। देश-प्रेम और कुर्बानी के जज़्बे को लेकर लिखा गया है। एकांकी फौजियों के आपसी प्रेम व भाईचारे की अनूठी मिसाल प्रस्तुत करता है। स्पलाई लाईन से कट जाने पर मौत और कुर्बानी के बीच फंसे फौजियों की तस्वीर प्रत्यक्ष उभर आती है।

इसी तरह यश शर्मा जी का ''हीखियां'' भी युद्ध से प्रभावित एकांकी है। पर इसकी कहानी एकतरफा प्यार पर बुनी गई है। रेखा एक सेवामुक्त कर्नल अभयसिंह की बेटी है। उसका पति सीमा पर शत्रु सेना से जूझ रहा है। वह इस प्रतीक्षा में है कि आज नहीं तो कल युद्ध विराम हो जायेगा और उसके सपनों का राजकुमार (उसका पति) घर आकर उसे आलिंगनबद्ध कर लेगा। दूसरी ओर माधो जो उसके छोटे भाई मनोज को पढ़ाने आता है; रेखा के प्रति उसके (माधो के) मन में प्यार पनपने लगता है। एकांकी का अंत दुखांत है। किसी की भी 'हीखी' यानि प्रतीक्षा पूरी नहीं होती। यह एकांकी युद्धबंदी एवं अमन-शांति की वकालत करता है। इसीलिए इस एकांकी

के कुछेक दृश्य फालतू और बनावटी प्रतीत होते हैं। यूं महसूस होता है जैसे एकांकीकार ने अपनी बात कहने के लिए कहीं-कहीं जरूरत से ज़्यादा भूमिका बांधी है। जैसे दृश्य दो में माधो और मनोज की लंबी-चौड़ी बातचीत एवं दृश्य चार में माधो के कवि होने का प्रसंग ज़्यादा विस्तृत हो गया है।

इस पुस्तक का पहला एकांकी प्रो. रामनाथ शास्त्री जी का ''नाथी दा होटल'' बहुत अच्छा एकांकी है। एकांकी का मुख्य पात्र नाथी अपना सब कुछ दाव पर लगाकर अपने भाइयों का पालन-पोषण करता है। वह अपने भाई के बेटे विद्या को विद्वान बनाना चाहता है। विद्या की रोशनी अंधेरे और अनपढ़ता को समाप्त कर सकती है, यही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

श्री डी. सी. प्रशांत जी का ''वीर जोरावर सिंह'' और नरेंद्र खजूरिया जी का ''प्यासी धरती'' भी ''कर्त्तव्य'' की तरह रेडियो नाटक है। जिन्हें एकांकी कहना उचित न होगा।

श्री के. एस. मधुकर जी के संपादन में 'साढ़ा साहित्य' 1967 में जितेंद्र शर्मा जी का ''न्हेरे दी तानी संयोगे दे तागे'' प्रकाशित हुआ। यह एकांकी जेकोब्स की प्रसिद्ध कहानी ''मंकीस पॉ'' का नाट्य-रूपांतर है। जितेंद्र शर्मा जी ने इसे बड़ी ही खूबसूरती से भारतीय परिवेश में ढालने का यत्न किया है, जिसमें वह सफल भी हुए हैं। कला और शिल्प की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ एकांकी है। ''साढ़ा साहित्य'' 1969 में मधुकर जी के संपादन में प्रो. मदन मोहन शर्मा जी का ''सढ़ैन'' एकांकी प्रकाशित हुआ। इस एकांकी की नायिका ''कमल'' अपनी ऐशपरस्त जिंदगी से ऊब चुकी है। उसे क्लब, होटल, पराए आदमी से मिलना अच्छा नहीं लगता। उसे अपने चारों ओर के वातावरण और यहाँ तक कि अपने-आप से भी 'सढ़ैन' यानि दुर्गंध आने लगती है। वह इस वातावरण से मुक्ति चाहती है पर चाहते हुए भी वह ऐसा नहीं कर सकती।

यह एकांकी आज विश्व-भर में प्रचलित संस्कृति की एक सशक्त तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस पर पश्चिमी सभ्यता का रंग इतना गहरा है कि भारतीय संस्कारों में बंधा व्यक्ति इस चकाचौंध में गुम हो जाता है। इस एकांकी के संवाद सीधे और सटीक हैं। एकांकी की नायिका खीझकर जब यह कहती है ''हां! हां, मिगी पता ऐ जे उत्थें काकटेल बी होग, नाच-गाना बी होग, फलैश ते रम्मी दियां बाजियां बी होंङन। अतरें दियां लपटां ते सिगटें दे छल्लेदार धूं बी होंङन। - ठीक ऐ मिसेज भाटिया उत्थें दरजनां पेटीकोट ते दरजनां पैंट-कोट होंङन। में सब किश खरी चाल्ली जाननी आं मिसेज भाटिया।'' पढ़ते ही सारा वातावरण एकदम आंखों के सामने घूम जाता है।

इसी दशक में ''अस भाग जगाने आले आं'' नरेंद्र खजूरिया जी का बाल एकांकी संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें सात एकांकी हैं। इसमें से कुछ नाटक मंचित भी हुए हैं। यहाँ एकांकी के स्थान पर नाटक शब्द का प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि ये सारे एकांकी की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। ''बुद्धुराम'', ''कोलम्बस दे साथी'', ''अंग्रेजी भूत'' लघु-नाटक तो हो सकते हैं पर एकांकी नहीं। क्यों कि इन में स्थान और समय, एक-सा न रहकर बदलता रहता है। पर इसी संग्रह में से ''साढ़े साथी, साढ़े सान्झी'', ''जागो ते जगाओ'', ''त्रै मतबन्ने'' और ''अस भाग जगाने आले आं'' सफल बाल-एकांकी हैं। लेखक ने कोशिश की है कि इन एकांकियों के माध्यम से बच्चों को कोई-न-कोई शिक्षा अवश्य मिले। इस दृष्टि से ये एकांकी आदर्शवादी हैं। इनके पात्र स्कूल के विद्यार्थी हैं। ''साढ़े साथी, साढ़े सान्झी'' एक प्रयोगात्मक एकांकी है, इसके पात्र पालतू और जंगली जानवर हैं जो अपने-आप को ठीक और सही मानते हैं। ''त्रै मतबन्ने'' कला-शिल्प की दृष्टि से बड़ा ही सशक्त और सफल एकांकी है। शेष दो एकांकी ''जागो ते जगाओ'', ''अस भाग जगाने आले आं'' भी किसी भी तरह से कम नहीं है। ये शिक्षाप्रद हैं। कहीं-कहीं पर शिक्षा कुछ अखरती भी है। कुल मिलाकर बच्चों को ध्यान में रखकर लिखी गई डोगरी की यह पहली पुस्तक है।

''साढ़ा साहित्य'' 1970 में के. एस. मधुकर जी के संपादन में कविरत्न खजूरिया जी का ''बहुरूपिया'' नाम का एकांकी प्रकाशित हुआ। चूंकि कविरत्न जी रंगमंच से बतौर अभिनेता और निर्देशक जुड़े हुए हैं। इसलिए रंगमंच की समस्याओं से वे भली-भांति परिचित हैं। इस एकांकी में उन्होंने रंगमंच से जुड़ी समस्याओं की ओर संकेत भी किया है। रंगमंच के बदलते परिवेश और पुराने रंगमंच के बीच एक विशेष निशानदेही करता यह एकांकी पुराने अभिनेता दीनदयाल पर केंद्रित है। जो अभिनय के बदलते रुझान को समझने की जगह अपने पुराने पारसी अंदाज़ में अभिनय करना चाहता है। उसकी त्रासदी यह है कि वह अपने समय में बड़े-बड़े रोल करने वाला अभिनेता होने के बावजूद इसलिए मिन्नतें कर रहा है ताकि उससे छोटा-सा नौकर का रोल न छिन जाए और उसे कहीं नौकरी से हाथ न धोना पड़ जाए।

1970 में ही जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी ने के. एस. मधुकर जी के संपादन में डोगरी एकांकी नाम से एकांकी संग्रह प्रकाशित किया। इसमें कुल सात रचनाएं हैं-

1. ''जीने दा लाह्''- ओ.पी. शर्मा 'सारथी', 2. ''नतीजा''- नरसिंह देव जम्वाल, 3, ''मलाटी''- दीनू भाई पंत, 4. ''ऐतवार दी सैर''-नरेन्द्र खजूरिया, 5. ''जुक्कां''-मदन मोहन शर्मा, 6. ''बगान्ना सच्च''- ओम गोस्वामी 7. ''साम्भ''- रामनाथ शास्त्री।

''जीने दा लाह्'' एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है। इसका नायक महेश परिवार का बड़ा बेटा है जो प्रथम श्रेणी में एम.ए. पास करके नौकरी की तलाश में है। उसे डेढ-दो सौ रु. की नौकरी में दिलचस्पी नहीं है। इसीलिए घर में छुट-पुट झगड़े अक्सर होते रहते हैं। अंत में उसका मित्र उसे समझाता है कि नौकरी कोई भी छोटी या बड़ी नहीं होती। काम को आदर्श मानकर करने की आवश्यकता होती है। अजीत एम.ए. भूगोल करके एक स्कूल में कार्यरत है। महेश जो हमेशा अपने मित्र का मज़ाक उड़ाता था, स्वयं भी मास्टर की नौकरी करने के लिए तैयार हो जाता है और एक आदर्श मास्टर बनने का संकल्प लेता है। इस एकांकी का ताना-बाना बड़ा ही सुंदर बुना गया है। इसमें डुग्गर समाज की तस्वीर एवं मानसिकता उभर कर सामने आती है। लेखक ने एक साधारण डोगरा परिवार की कहानी के माध्यम से बड़े ही सीधे-सादे ढंग से अपनी बात कही है। एकांकी के संवाद छोटे-छोटे और चुस्त हैं और पात्र मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व में फंसे हुए समाज का एक हिस्सा।

दूसरा एकांकी 'नतीजा' नरसिंह देव जम्वाल जी द्वारा लिखित है। यह एकांकी भी मध्यवर्गीय डोगरा परिवार पर आधारित है। यह एकांकी हास्य और व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया है।

''नतीजा'' के नायक पशौरी लाल ने क्लर्की के पद पर कार्य करते हुए शिरोमणी की परीक्षा दी है। वह डोगरी की हिमायत करता है। उसके माध्यम से लेखक ने कुछ बड़े ही संजीदा प्रश्न उठाने का सफलतापूर्वक यत्न किया है। सर्व भाषिय कवि सम्मेलन पर टिप्पणी करते हुए नायक कहता है- ''डोगरें दी इयै नीती गै ते इनेंगी लेइयै बेही गेई ऐ। होर भाशां कुत्थें पुज्जी गेइयां न ते डोगरी बचैरी बिच्च गै घसटोई जा करदी ऐ।''

इस एकांकी में एक ओर विशेष बात यह है कि लेखक ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से यह समझाने का यत्न किया है कि किसी भी भाषा को हीन या घर की मुर्गी दाल बराबर नहीं समझना चाहिए। लेखक ने इस एकांकी के माध्यम से डोगरी के कुछ नामी-गिरामी कवियों के साथ पहचान भी करवाई है।

तीसरा नाटक ''मलाटी'' डुग्गर के दो काल्पनिक पात्रों के अचानक मिलने पर आधारित है। श्री दीनू भाई पंत जी ने इस काल्पनिक मलाटी (अचानक मिलना) के माध्यम से डुग्गर के दो ऐसे सपूतों को आमने-सामने खड़ा किया है जिनकी चाह डुग्गर के डोगरों की बेहतरी ही है पर उनके रास्ते अलग-अलग हैं। एकांकी

के दो प्रमुख पात्र मियां डीडो और मियां गुलाब सिंह इतिहास से जुड़े पात्र हैं, जबकि एकांकी का तीसरा पात्र बावा औगड़ काल्पनिक है। 'मलाटी' में डुग्गर के स्वाभिमान और स्वाभिमान के रक्षकों की जो बात हुई है, उससे उस समय के डोगरा समाज, वहां की राजनैतिक अस्थिरता का पता चलता है। एकांकी के संवादों में पूरी पकड़ है।

नरेन्द्र खजूरिया जी के एकांकी "ऐतवार दी सैर" पर पहले बात कर चुके हैं। अगला महत्त्वपूर्ण एकांकी प्रो. मदन मोहन जी का "जुक्कां" है। यह एक मध्यवर्गीय डोगरा परिवार की कहानी पर आधारित है, जो आर्थिक संकट से ग्रस्त है। घर का मुखिया नित्तेआनंद शास्त्री सेवानिवृत्त होने वाला है। इसलिए अपने पढ़े-लिखे बेटे के लिए चिंताग्रस्त है। पर दिवाकर को इसकी कोई चिंता नहीं। उसकी जवान बेटी "कुशल्या" ससुराल में निबाह न कर पाई। इसलिए उसका पति खुदकुशी कर लेता है और छोटा बेटा कालेज के प्रोफैसर पर तेजाब फेंक अपने साथी के साथ भाग जाता है। नित्तेआनंद की पत्नी का लगाव मन्दिर की ओर है। कुल मिलाकर सारे घर के मुखिया का लहू चूसने वाली 'जुक्कें' हैं। प्रो. साहब ने बाद में अपना सारा ध्यान रेड़ियो नाटक लिखने की ओर दिया। जिससे डोगरी एकांकी को ही नहीं अपितु डोगरी नाटक को भी हानि पहुंची।

ओम गोस्वामी जी द्वारा लिखित एकांकी "बगान्ना सच्च" तीन स्त्रियों की कहानी है, जो सहेलियां भी हैं। पर अवसर मिलते ही एक-दूसरे की निंदा करने से भी नहीं टलती। लक्ष्मी रानी, रम्बा कुमारी और चम्पा देवी कुछ ऐसे ही पात्र हैं। यह एकांकी यथार्थवादी शैली में लिखा गया एक सामाजिक एकांकी है।

इस किताब का अगला एकांक़ी श्री रामनाथ शास्त्री जी द्वारा लिखा हुआ "बाबा अम्बो" की कहानी को दर्शाता "साम्भ" है। "बाबा अम्बो" के मार्मिक बलिदान की कहानी होते हुए भी इसे एकांकी नहीं कहा जा सकता। संकलन-त्रय के चौखटे में रख कर देखो तो केवल समय के बारे में सोच-विचार किया जा सकता है। इसे हम खूबसूरत रेडियो नाटक कह सकते हैं।

शीराज़ा 1972 अंक दो में के. एस. मधुकर जी के संपादन में आत्माराम जी का "चाह् चपड़ासी" नाम का एकांकी प्रकाशित हुआ। कार्यालय का चपरासी कर्मचारियों के लिए चाय ला-ला कर थक जाता है और थकावट से कराहता रहता है। यही इस एकांकी की विषय-वस्तु है। इस एकांकी को हास्य-एकांकी कह सकते हैं। 1972 में शीराज़ा एकांकी-अंक मधुकर जी के संपादन में जम्मू-कश्मीर अकैडमी की

ओर से प्रकाशित हुआ। इस में पाँच एकांकी थे-1. ''हीखी''- नरसिंह देव जम्वाल, 2. ''पराना बड़ नर्मी सिड़क''- रामनाथ शास्त्री, 3. ''सड़ैन''- मदन मोहन शर्मा, 4.''तन्द जे त्रुट्टै गंढी लैनी ओ''- नरेन्द्र खजूरिया, 5. ''शूटिंग'' - जितेन्द्र शर्मा।

प्रो. रामनाथ शास्त्री जी का एकांकी ''पराना बड़ ते नर्मी सिड़क'' एवं नरेन्द्र खजूरिया जी का ''तन्द जे त्रुट्टै गंढी लेनी ओ''- एकांकी न होकर रेडियो नाटक की श्रेणी में आते हैं।

एकांकी ''सड़ैन'' पर पीछे बात कर चुके हैं। ''हीखी'' और ''शूटिंग'' दोनों एकांकी व्यंग्य शैली में लिखे गये पूरी तरह से संकलन-त्रय पर खरे उतरते हुए डोगरी एकांकियों में चर्चा का विषय बने रहे। 'हीखी' एकांकी रंगमंच के लिए स्त्री पात्रों की कमी को लेकर लिखा गया है। जो उस समय के रंगमंच की गंभीर समस्या को उजागर करता है। 'हीखी' के संवाद अर्थपूर्ण एवं छोटे-छोटे हैं। सभी पात्र एक विशेष अंदाज़ में सामने आते हैं।

इसी तरह शूटिंग बी हल्के-फुल्के अंदाज़ का एक हास्य-एकांकी है। जो शूटिंग के अंतिम दिन के बिछुड़ने की घटना को अपने ही अंदाज़ में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस एकांकी के सारे पात्रों को फिल्म की अभिनेत्री माला से बिछुड़ने का गम है। सभी उसके दीवाने हो गए थे। यह एकांकी फिल्मी लोगों के चरित्र और ग्रामीणों के भोलेपन की तस्वीर चित्रित करता है।

1973 में भी शीराज़ा एकांकी-नाटक अंक प्रकाशित हुआ इसका संपादन भी श्री के. एस. मधुकर जी ने किया था। इसमें निम्नलिखित पांच एकांकी थे-1. ''मौती दी छामां हेठ''-मदन मोहन शर्मा, 2. ''ऐतवार दी सैर''- नरेंद्र खजूरिया, 3. ''सुर सम्राट''-जितेंद्र शर्मा, 4. ''सांझी भुल्ल''- नरसिंह देव जम्वाल 5. ''जादू सिर चढ़ी नै बोल्लै''- कुलभूषण चन्द्र कायस्थ।

प्रो. मदन मोहन शर्मा जी का ''मौती दी छामां हेठ'' रेडियो नाटक है।

''सुर सम्राट'' ते ''जादू सिर चढ़ी नै बोल्लै'' हास्य-एकांकी कहे जा सकते हैं। कुलभूषण कायस्थ का एकांकी ''जादू सिर चढ़ी नै बोल्लै'' पर जोरदार पकड़ नहीं है और समस्या भी आम फिल्माना अंदाज़ की घिसी-पिटी सी लगती है। वहीं ''सुर-सम्राट'' में नाटकीयता का पूरा ध्यान रखा गया है। शायद इसीलिए आगे चलकर यह एकांकी नाटकीयता के मोह जाल में फंस कर रह जाता है। इसका कला-पक्ष तो दृढ़ है पर भाव-पक्ष कुछ कमज़ोर महसूस होता है।

''सांझी भुल्ल'' एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है। यह एक सामाजिक एकांकी है जो पूरी तरह से सामाजिक सरोकारों में बंधा हुआ धरती से अपना रिश्ता बनाये रखता है।

1974 के शीराज़ा में ''मधुकर'' जी के संपादन में कुलदीप सिंह जिंद्राहिया जी का ''वट इज़ दिस'' एकांकी प्रकाशित हुआ। जो एक हास्य-एकांकी है। स्थान परिवर्तन ज़्यादा होने के कारण इसे एक खूबसूरत लघु-नाटक कहा जा सकता है।

1974 में बाल-एकांकी नाम से गोस्वामी जी की एक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी में सात रचनाएं थी 1. ''गुरु दक्खना,'' 2. ''कच्ची-पक्की'', 3. ''मां इक क्हानी सना'', 4. ''घर-घर'', 5. ''जमात-करामात'', 6. ''बुआल'' 7. ''मित्रो-कोठियां''।

''गुरु दक्खना, बुआल, मित्रो कोठियां'' लघु-नाटक या रेडियो-नाटक हैं पर बाकी चार पूरी तरह से एकांकी हैं। ''कच्ची-पक्की'' में लेखक ने डुग्गर के प्रचलित खेल गुड्डे-गुड्डी की शादी के माध्यम से बहुत ठोस बातें कही हैं। यह एकांकी डुग्गर-संस्कृति का पूरा चित्र प्रस्तुत करता है। ''माँ इक कहानी सना'' में लोक-कथा एवं लोक-विश्वासों का सहारा लेकर शिक्षा देने की कोशिश की गई है। ''घर-घर'' में बच्चों द्वारा बहरूप रच कर नयी और पुरानी पीढी की तकरार और खीझ को प्रस्तुत किया है।

''जमात-करामात'' नाम का एकांकी एकता में बल है कि कहानी को बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हमारे सामने रखता है। इस एकांकी का खलनायक रघु और उसके विषय में बुनी गई भूमिका सोचने पर विवश कर देती है कि क्या यह मुमकिन है? इन चारों एकांकियों को सफल बाल-एकांकी कहा जा सकता है। इनकी भाषा और घटनाओं का ताना-बाना भी बच्चों की मनोवृत्ति अनुसार है।

डोगरी शीराज़ा का बाल-नाटक और लेख अंक शिवराम दीप जी के संपादन में छपा। इसमें रामनाथ शास्त्री जी का ''बरोबरी'' नरेन्द्र खजूरिया का 'हीखी', ओम गोस्वामी जी का ''गुरु दक्खना'' बाल-नाटक हैं। ये एकांकी की श्रेणी में नहीं आते।

1975 में तीन विभिन्न लेखकों के एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए। श्री रामनाथ शास्त्री जी का ''झकदियां किरणां'', देवरत्न शास्त्री जी का ''पंजरंग'' और नरेंद्र खजूरिया जी का ''अपने पराए''। श्री रामनाथ शास्त्री जी के संग्रह में ''बे-बसाही'' को छोड़ कर बाकी सारी रचनाएं पहले कहीं-न-कहीं छप चुकी हैं और उनका

उल्लेख भी किया जा चुका है। "बे-बसाही" एकांकी नहीं अपितु रेडियो नाटक है। फिर भी यह संग्रह डोगरी-साहित्य की एक विशेष उपलब्धि है।

इसी वर्ष प्रकाशित होने वाली दूसरी पुस्तक देवरत्न जी की "पंज रत्न" है। इस में पांच एकांकी हैं। इन पांचों में से दो "बक्खरे-बक्खरे पैंडे," और "अपने पैरें पर" स्थान परिवर्तन और समय सीमा का ध्यान न रखने के कारण लघु-नाटक या रेडियो-नाटक की कोटि में आते हैं। शेष तीन "बजट दा भविक्ख," "दोस कोह्दा" और "हत्यारन" पूरी तरह से एकांकी की श्रेणी में आते हैं। "बजट दा भविक्ख," और 'दोस कोहदा' विषय-वस्तु के हिसाब से भिन्न होते हुए भी हास्य-व्यंग्य की मीठी-मीठी झलक देते हुए सामाजिक एकांकी हैं। "बजट दा भविक्ख" में लेखक ने बड़े ही हल्के-फुल्के अंदाज़ में प्रत्येक घर में प्रतिदिन घटने वाली बातों को इस तरह पिरोया हुआ है कि वह सबको अपने घर की कहानी महसूस होती हैं। इस एकांकी के माध्यम से एकांकीकार ने महंगाई, रिश्वत और भ्रष्टाचार जैसे विषयों की ओर संकेत किया है।

"दोस कोहदा" में सास-बहू के सदियों पुराने चलते आ रहे छुट-पुट झगड़ों को पाठकों के समक्ष सफलतापूर्वक रखा गया है। लेखक ने एकांकी में सास-बहू को मनमर्जी करने के लिए खुला नहीं छोड़ा। अपितु उन दोनों के बीच एक कड़ी के रूप में राजनारायण रहता है और उनकी समस्या का समाधान करने का यत्न भी करता है।

"हत्यारन" एकांकी की कथा-वस्तु नारी-शोषण पर आधारित है। डोगरी के कुछ गिने-चुने एकांकियों में इसकी गणना की जा सकती है।

इसी वर्ष प्रकाशित होने वाली तीसरी किताब नरेन्द्र खजूरिया जी की "अपने-पराए" है। इसमें पाँच रचनाएं हैं- "अपने-पराए, हिजरत, ऐतवार दी सैर, प्यासी धरती, तन्द जे त्रुट्टै गण्डी लैनी ओ"।

"प्यासी धरती और तन्द जे त्रुट्टै गण्डी लैनी ओ" दोनों रेडियो नाटक हैं। "ऐतवार दी सैर" का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

"अपने-पराए" जात-बिरादरी और खूनी रिश्तों से भी आगे एक अपना-परायापन होता है, जो सही अर्थ में एक ऐसा रिश्ता है जो स्थाई है और वह रिश्ता है आर्थिक समानता का। आर्थिक समानता के आगे दलित-स्वर्ण या जात-बिरादरी एक ढकोसला-मात्र है। स्वर्ण जाति के स्त्री-पुरुष कैसे साथ वाले घर के दलित के

घर रह रहे अपनी बिरादरी के पति-पत्नी को अपने गेराज़ में रहने के लिए कमरा दे देते हैं और फिर नौकर से भी बदतर सलूक करने लगते हैं। यह एकांकी समाज को जात-बिरादरी के स्थान पर दो तबको में बांट कर देखने की वकालत करता है और ढकोसलों के विरुद्ध आवाज़ उठाता है।

''हिजरत'' एकांकी में डुग्गर के प्रसिद्ध लोक-नायक ''बावा जित्तो'' के ग्हार (गांव का नाम) को छोड़ कर जाने के कथानक को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसे हम ऐतिहासिक-एकांकी भी कह सकते हैं।

शीराज़ा 1978 के सितम्बर-दिसम्बर अंक में ओम गोस्वामी जी के सम्पादन में देश बन्धु डोगरा नूतन जी का एकांकी ''नूतन हुन्दा सफर'' प्रकाशित हुआ। यह हास्य-रस प्रधान एकांकी है। लेखक ने बहुत ही खूबसूरती से इसको लिखा है। इस एकांकी में महंगाई और मिलावट की ओर संकेत किया गया है। व्यक्ति के लालच को भी सामने लाने का यत्न किया गया है। एकांकी के संवाद छोटे-छोटे और अर्थपूर्ण हैं।

1979 में ओम गोस्वामी जी के संपादन में बाल-अंक प्रकाशित हुआ। इसमें शिव उपाध्याय जी का ''सीता जन्म'', ओम गोस्वामी जी का ''माँ इक कहानी सना'', रामनाथ शास्त्री जी का ''अशोक बाटका'' ते ''सैंतरे दी बोरी'' जितेंद्र शर्मा जी का ''चोरै गी मोर'' सम्मिलित हैं। ''माँ इक कहानी सना'' का उल्लेख पहले हो चुका है। बाकी तीन एकांकियों में से जितेंद्र शर्मा जी का ''चोरै गी मोर'' एक मात्र रचना है जिसे एकांकी कहा जा सकता है। बाकी दो लघु-नाटक की श्रेणी में आते हैं।

''चोरै गी मोर'' एक हास्य-एकांकी है। जो एक चुटकुले से शुरू होता है और उसी पर समाप्त हो जाता है।

1980 में दो लेखकों के एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए। नरसिंह देव जम्वाल जी का ''चौसर'' और विश्वनाथ खजूरिया जी का ''नीलकंठ''। चौसर में चार और नीलकंठ में पांच रचनाएं हैं।

जम्वाल जी के संग्रह ''चौसर'' में से दो ''हीखी'' और ''सांझी भुल्ल'' का उल्लेख पहले हो चुका है। ''अतीत दा भूत'' पति-पत्नी के बीच होने वाले छोटे से विवाद को लेकर मनोवैज्ञानिक ढंग से बुना गया ताना-बाना है। ''लज्जया'' जो कभी बिशन के साथ प्यार करती थी और जैदेव के साथ उसका विवाह हो गया। पर विशन का बार-बार उनके घर आना और जैदेव का उसके साथ घनिष्ठ संबंध बनाना लज्जया के मन में भ्रम उत्पन्न कर देता है। वह मन ही मन सोचती है कि उसका पति उसके अतीत के विषय में सब जानता है और जान-बूझकर बिशन को

बिठाए रखता है। इसलिए वह अंदर-ही-अंदर कुढ़ती रहती है। एक दिन लज्जया अपने पति को सब कुछ सुना देती है। जिसके विषय में वह नहीं जानता था।

यह एकांकी अंत में परंपरावादी समझौतावाद की झलक लिए समाप्त होता है। 'धुखन' एक पौराणिक कथा पर आधारित है। मत्स्य पुराण की कथाओं में से देवयानी-कच्च की चर्चित कथा पर यह एकांकी बुना गया है। यह ''धुखन'' (कुढ़न) देवयानी की है। जिसने कच्च को अथाह प्यार किया था और राक्षसों द्वारा बार-बार मारने पर भी शुक्राचार्य को कहकर जीवित करवा लिया था। उसका उद्देश्य केवल मात्र कच्च को आत्म-समर्पण करना था। जिसे कच्च ने ठुकरा दिया था। जम्वाल जी ने इस एकांकी के पूर्व और अंत में कुछ-न-कुछ जोड़ कर इसे संपूर्ण नाटक बना दिया है। जिसे जम्मू के अतिरिक्त लखनऊ, दिल्ली बगैरा में भी मंचित किया गया।

विश्वनाथ जी के नीलकंठ में पांच रचनाएं हैं- ''घुंडियां, फुल्ल खिड़ेआ पर, नीलकंठ, अछूत और निग्गोसार।'' ''अछूत'' पर पहले बात हो चुकी है। ''फुल्ल खिड़ेआ पर, नीलकंठ और निग्गोसार'' एकांकी के अंतर्गत नहीं आते। इसलिए ''घुंडियां'' पर ही चर्चा की जायेगी। ''घुंडियां'' दादे-पोते की एक-दूसरे के प्रति होने वाली स्वाभाविक कशिश और समझ को लेकर घर की बहू के मन में उपजती 'घुंडियें' यानि गांठों का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। नये-पुराने विचारों के बीच की खाई को और गहरा करने में रजनी की नकारात्मक सोच ही इसमें बढ़ौत्तरी करती है और हरि भगता को घृणा से देखने पर मजबूर करत्ती है।

यह एकांकी इस समय प्रत्येक घर में घर कर गया है और उत्तर आधुनिकतावाद की ''इक्कलसोख'' की नीति की निशानदेही करता है। यह विश्वनाथ खजूरिया जी का सफल एकांकी है।

1982 के शीराज़ा अगस्त-सितम्बर अंक में घनश्याम घगवालिया जी का ''मनुक्ख ते परछामे'' प्रकाशित हुआ।

1984 में ओम गोस्वामी जी के संपादन में जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी ने एकांकी संग्रह प्रकाशित किया। इसमें सात रचनायें हैं- 1. ''मैले दर्पण धुन्दले चेहरे''- रामनाथ शास्त्री, 2. ''रिसर्च स्कालर''-मदन मोहन शर्मा, 3. ''बावा जित्तो''- विश्वनाथ खजूरिया, 4. ''कर्त्तव्य''-जितेन्द्र शर्मा, 5. ''सक्के अजनबी''-ललित मंगोत्रा, 6. ''कागदै दे फुल्ल''- चमन अरोड़ा, 7. ''बेखे''- मोहन सिंह।

जितेंद्र शर्मा जी के ''कर्त्तव्य'' पर बात हो चुकी है। ''मैले दर्पण धुन्दले चेहरे, रिसर्च स्लाकर और सक्के अजनबी'' रेडियो-नाटक हैं। ''बावा जित्तो और

''कागदें दे फुल्ल'' रंगमंच की जरूरतों को सामने रख कर लिखे गये हैं। दोनों नाटकों में जिन्दगी की पूरी तस्वीर झलकती है जो इनें एकांकी से अलग करके नाटकों की श्रेणी में ले जाती है।

इस पुस्तक में ''बेखे'' एकांकी की हर कसौटी पर पूरा उतरता है।

गोस्वामी जी के संपादन में शीराज़ा का एकांकी अंक 1984-85 दिसंबर-मार्च प्रकाशित हुआ। इसमें छः रचनायें हैं- 1. ''सत्यं शिव''- श्री विश्वनाथ खजूरिया, 2. ''दिल दरेआ ऐ''- प्रो. मदन मोहन, 3. ''सीरां''- श्री नरसिंह देव जम्वाल, 4. ''पंजमी सदी दे डाक्टर दी हट्टी''- डॉ. मनोज, 5. ''सप्प गै सप्प''- श्री शिव दोवलिया, 6. ''सेहत इ-दराज''- श्री देशबंधु डोगरा नूतन जी का। पहली तीन रचनायें ''सत्यं शिवं, दिल दरेआ ऐ, और सीरां'' रेडियो नाटक हैं। ''सप्प गै सप्प'' लघु-नाटक की कोटि में आता है। डॉ. मनोज शर्मा जी का ''पंजमी सदी दे डाक्टर दी हट्टी,'' देश बंधु डोगरा नूतन जी का ''सेहत इ-दराज'' एकांकी की श्रेणी में आते हैं।

साइंसी तकनीक की चरमसीमा को दर्शाता और मानवी जीवन में उसके प्रयोग को बड़े हल्के-फुल्के अंदाज़ में ब्यान करके डॉ. मनोज ने सचमुच मार्के का काम किया है। इस प्रहसन में गुप्त रूप से बड़े और तेज व्यंग्य छुपे हुए हैं। पात्रों के नामों का चयन भी पूरी तरह से मशीनी होने की निशानदेही करता है। जैसे-जेंड एक्स-2, टी 2-4, एम.आर. डी और डी.एल.ई बगैरा।

''सेहत इ-दराज'' डोगरा-पहाड़ी प्रदेश के ग्रामीण परिवेश की तस्वीर प्रस्तुत करता एक सफल एकांकी है। यह एक यथार्थवादी एकांकी है जिसमें प्रगतिवादी सुर भी उभर कर सामने आता है। जिसे लेखक ने बड़े अच्छे ढंग से निभाया है। शीराज़ा 1986 के अगस्त-सितम्बर अंक में ''धरती दे चित्रगुप्त'' नाम का एकांकी प्रकाशित हुआ। ज्ञान सिंह पगोच द्वारा लिखित यह एकांकी लघुनाटक की श्रेणी में आता है।

नवम्बर 1987 में शिव दोबलिया जी का एकांकी संग्रह ''लाटरी दा टिकट'' प्रकाशित हुआ। इसमें पांच रचनाएं हैं। जिनमें से ''परौह्नचारी'', ''लाटरी दा टिकट'' और ''करी लो गल्ल'' और ''सप्प गै सप्प'' लघु-नाटक है। क्योंकि इनमें दृश्य परिवर्तन होता है। इस संग्रह के सभी एकांकी हल्के-फुल्के अंदाज में हास्य-व्यंग्य की बात करके पाठक या दर्शक को बांधे रखते हैं। इस संग्रह का तीसरा एकांकी ''अधिकार'' एक प्रयोगात्मक एकांकी है।

1988 में एकांकी के इतिहास में श्री जितेंद्र शर्मा जी का एकांकी संग्रह ''बुड्ढ सुहागन'' प्रकाशित हुआ। यह डोगरी साहित्य में इसलिए विशेष स्थान रखता है क्योंकि इसे साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला है।

यह हमारे लिए गौरव की बात है कि श्री जितेंद्र शर्मा जी के इस एकांकी संग्रह को राष्ट्रीय सम्मान मिला। इसमें चार रचनाएं हैं– 1. ''न्हेरे दी तानी, संयोगें दे धागे'', 2. ''शूटिंग'', 3. ''तृशणा'', 4. ''बुड्ढ सुहागन।'' यह चारों रचनाएं अपने शीर्षक से न्याय करती हैं। पहले तीन एकांकी केवल सफल ही नहीं अपितु श्रेष्ठ एकांकी है। चतुर्थ रचना ''बुड्ढ सुहागन'' एकांकी के दायरे में नहीं आती। इसे लघु-नाटक कह सकते है। क्योंकि यह होटल के कमरे से शुरू होता हुआ रानी साहिबा के गाँव और राजमहल में से होता हुआ पहले स्थान पर आकर समाप्त हो जाता है। यह सब विशेषताएं नाटक में हो सकती हैं पर एकांकी में नहीं।

''तृशणा'' में करुणा की करुणामयी कहानी को बड़े ही सुंदर ढंग से हमारे सामने रखने की लेखक की एक कामयाब कोशिश है। करुणा जिसका कत्ल उसके पति ने कर दिया है पर यह कत्ल दुनिया की नजर में एक दुर्घटना है। लेखक ने बड़े अच्छे और नये तरीके से इस एकांकी को लिखा है। डोगरी में यह पहला और सफल प्रयास है।

1990 के जुलाई-दिसम्बर नमीं चेतना बाल अंक में शशि पठानिया जी के संपादन में दो बाल एकांकी प्रकाशित हुए। 1. ''इनामी भाशा''– ज्ञानेश्वर शर्मा, 2. ''लाज''– शिवदेव सिंह मन्हास।

शिवदेव सिंह मन्हास का ''लाज'' बाल-नाटक है। ज्ञानेश्वर शर्मा जी का ''इनामी भाशा'' एकांकी विधा पर खरा उतरता है। ''इनामी भाशा'' का मुख्य पात्र लेखक स्वयं है और अंत में की गई उसकी घोषणा के विषय में संजीदगी से सोचने की जरूरत है।

''मेरे लाडलेओ ओह् धरती बंजर ऐ जेह्दी कुक्खै चा बी निक्की-निक्की पौंगर बनियै नेईं फुट्टी निकले ते ओह् भाशा भी फोकली ते बेनूरी ऐ जेह्ड़ी साढ़े गिल्लुयें दे जातुएं चा तुतलियां गल्लां करोआई साढ़े कन्नै च मिसरी नेईं घोलै।

मेरे बच्चेओ में ए (इ)नाम परताने दी सगंध खन्नां ते बचन पान्नां जे जदूं तोड़ी लिखङ तुन्दे न्याने ताई गै कान्नी चुक्कङ।''

1990 में शिवराम दीप जी के संपादन में शीराज़ा एकांकी अंक अप्रैल-मई प्रकाशित हुआ। इसमें प्रकाशित सात की सात रचनाएं मंचन योग्य हैं। ''सुर्ग-नर्क'' को छोड़ कर बाकी छः एकांकी विधा पर पूरी उतरती हैं। ''सुर्ग-नर्क'' को चंचल

शर्मा जी ने मंच की जरूरतों अनुसार लिखने की कोशिश की है पर उसे एकांकी बनाने में सफल न हो सके।

शेष छः में से दो एकांकी विश्वनाथ जी का "इक होर मरीज" और जितेंद्र शर्मा जी का "चढ़ी जा बच्चा सूली पर" पश्चिमी और भारतीय शैली के मिश्रण के उदाहरण है। रामलीला के उत्सव पर दृश्य-परिवर्तन का आधार बनाकर दोनों एकांकीकारों ने अपनी धरती पर पकड़ बना रखने के साथ-साथ रंगमंची सूझ-बूझ का परिचय दिया है। जितेन्द्र शर्मा जी का "चढ़ी जा बच्चा सूली पर" एक हास्य- व्यंग्य ऐ। इसमें उन्होंने बीच-बीच में कटाक्ष भी किए हैं जैसे "बढ़ापे दी लाठी म्हात्मा गांधी ने खोही लेई ते निक्की लाठी गी मूरख नंद टक्करी गेआ लभदा ऐ।"

मोहन सिंह जी का "भली होई जान-पन्छान" भी एक हास्य-व्यंग्य है और शराफत का नकाब ओढ़ कर घूमने वालों का पर्दापाश करता है। नरसिंह देव जम्वाल जी "सब्स्टीच्यूट" के माध्यम से शहरी मानसिकता और आधुनिकता का खोल चढ़ा कर जीने वाले स्वार्थी परिवार की कहानी को बड़ी ही सहजता से हमारे समक्ष रखते हैं। जहाँ छोटे बच्चे को संभालने के लिए न तो माँ के पास समय है और न ही बाप के पास। नौकरानी छुट्टी पर है और घर के बुजुर्ग परिवार के लिए बोझ और उनकी स्वतंत्रता में रुकावट हैं।

आज की आधुनिकता का प्रभाव छोटे बच्चों पर पड़ता है। जिन्हें माँ-बाप का प्यार भी नहीं मिलता। "सब्स्टीच्यूट" आज के युग का सही चित्र खींचता एक सफल एकांकी है।

देशबंधु डोगरा नूतन जी का एकांकी "हाट्टा" एक ऐसी समस्या को लेकर लिखा गया है जो डुग्गर के पहाड़ी ग्रामीण लोगों के जीवन के साथ संबंध रखती है। बक्करवालों के डेरे जब पहाड़ों पर जाते हैं तो रास्ते में लोगों की फसलें उजाड़ते चलते हैं। इसी बात को बड़े ही सुंदर ढंग से नूतन जी ने अपने इस एकांकी के माध्यम से पाठकों तक पहुंचाया है। एकांकी में उस इलाके की आर्थिक एवं सामाजिक दशा का भी पूरी तरह चित्रण किया है। भाषा में आंचलिकता एकांकी की खूबसूरती है।

इस संग्रह का सबसे अलग खास एकांकी मदन मोहन शर्मा जी का "बच्चा" है। अत्याचार की दुनियां में रहने वाले कुछ लोग अपने गुरु की प्रतीक्षा कर रहे हैं ताकि मीटिंग शुरू कर सकें। कर्फ्यू में वीरान सड़क पर एक खोए हुए बच्चे के रोने की आवाज़ आती है। बच्चा रास्ता भूल गया है और वह कहीं भटक न जाये। यही इस एकांकी का सार है। एकांकीकार ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से इस बात को कहने की सफल कोशिश की है।

1989 च शिवदेव सिंह मन्हास जी का "पंजीकड़ा" नाम से एक बाल-एकांकी संग्रह छपा। इस बाल-एकांकी संग्रह में 1. "ठगोई गे ठग्ग," 2. "गुरु मैहमा," 3. "सबक," 4. "चोरै गी मोर" ते 5. "टारचै दी लोऽ" पांच एकांकी शामिल हैं। "ठगोई गे ठग्ग", "गुरु मैहमा ते टारचै दी लोऽ" स्टेज-एकांकी हैं पर यदि परखा जाए तो मात्र "टारचै दी लोऽ" ही एक ऐसा एकांकी है जो एकांकी विधा पर पूरा उतरता है। पर बाक़ी दो "ठगोई गे ठग्ग", "गुर मैहमा" भाव-पक्ष की दृष्टि से ठीक हैं पर कला-पक्ष की दृष्टि से एकांकी विधा पर पूरे नहीं उतरते।

1992 में एकांकी के दो संग्रह प्रकाशित हुए। शीराज़ा एकांकी अंक जून जुलाई और नवरंग इस बात की पुष्टि करते हैं। शिवराम दीप जी के संपादन में "शीराज़ा एकांकी अंक में 1. "गुंझल"- सुदर्शन रत्नपुरी, 2. "चुत्थों मुंह् जुक्कें दा"- शिव दोबलिया, 3. "नैह्रेबाजी"- जगदीप दुबे, 4. "आसरा"- ज्ञान सिंह पगोच, 5. "नमां सवेरा"- शिवराम दीप प्रकाशित हुए।

इनमें से सुदर्शन रत्नपुरी का "गुंझल" और ज्ञान सिंह पगोच का "आसरा" रेडियो-नाटक हैं। बाकी तीन एकांकी विधा के अंतर्गत आते हैं। "चुत्थो मुंह् जुक्कें दा"- शिव दोबलिया जी का एकांकी जंगल की लकड़ी की चोरी की समस्या को लेकर बुना गया एक पारिवारिक नाटक है। इसमें लेखक ने सहजता से अपनी बात कही है।

"नैहरेबाजी" और "नमां सवेरा" दोनों नुक्कड़-नाटक की विधा में लिखे गये एकांकी हैं। आधुनिक शैली में लिखे गये इन एकांकियों में थोड़ा फेर- बदल कर कहीं भी खेला जा सकता है। "नैह्रेबाजी" यर्थाथवादी शैली का सहारा लेकर इस बात पर समाप्त होता है कि यहां-हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई तो रहते हैं पर आदमी नहीं। वहीं "नमां सवेरा" संघर्षशील रहने के लिए प्रेरित करता और आशा की किरण जगाकर रखने का संदेश देता है।

इसी वर्ष यानि 1992 में प्रकाशित होने वाले दूसरे एकांकी संग्रह का संपादन भी शिवराम दीप जी ने ही किया और इसे जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी ने प्रकाशित किया। नवरंग नामक इस संग्रह में नौ एकांकी है। नरसिंह देव जी का "दर्द अपना-अपना" आतंकवाद से प्रभावित एक संवेदनशील पारिवारिक एकांकी है। इस एकांकी में आतंकवाद की समस्या को अलग जाविये से देखने-परखने की कोशिश की गई है।

"सुन्दरी" देश बंधु डोगरा नूतन जी का भारत की राजनीति और आपा-धापी की ओर व्यंग्य-बाण छोड़ता 'धार' रोड़ की एक दुकान के आगे-पीछे का वातावरण चित्रित करता है। एक बंदरी की मृत्यु का सियासीकरण करने वाले लोगों की कहानी

प्रस्तुत करता है। बंदरी जो शाह ने पाली हुई थी, बक्करवालों के कुत्ते को काटने लगी तो कुत्ते ने उसे मार दिया। यही बात बढ़ती गई और सड़क पर लोग धरने पर बैठ गए। गाड़ियों की आवाजाही तक रुक गई।

लेखक ने इसके माध्यम से अपराधीकरण, भ्रष्टाचार, रिश्वत के विषय में भी खुलकर टिप्पणी की है। शायद इसीलिए एकांकी का कलेवर भी बढ़ गया है। भाषा और पात्रों के संवादों में खास मिट्टी की सुगंध है।

''अगला पाठ'' ओम गोस्वामी जी का दो भागों में लिखा गया एकांकी है। पहला भाग फलसफे से भरा और दूसरा यथार्थ के शिकंजे में कसा आज के आधुनिक विचारों के लोगों की तस्वीर प्रस्तुत करता है। दोनों भागों में स्थान भी भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, समय रात का है। पहला हिस्सा शहर की अंधेरी गलियों में बूढ़े की तलाश में समाप्त होता है और दूसरा भारतीय संस्कृति के पहले पाठ बड़ों का आदर करने के साथ। ''अगला पाठ'' आज के समाज में पैसे की प्रधानता को उचित करार देने वाले लोगों और उसी धुरी पर चलते उनके बच्चों की एक ऐसी तस्वीर हमारे सामने खींचता है जिसे देख कर घिण आए।

''गेआ मैं कुत्थें हा'' चंचल शर्मा जी का हास्य-रस का एकांकी है। आकार में बिल्कुल छोटा और समस्या भी हल्की-फुल्की। यह एकांकी नरेन्द्र खजूरिया जी के ''ऐतवार दी सैर'' से प्रभावित दिखाई देता है ''लॉ मेकर'' आधुनिक शैली में लिखा गया कड़ी-दर-कड़ी अपनी बात को सामने लाता ऐसा एकांकी है जिसे मात्र मंच पर ही नहीं अपितु नुक्कड़ में भी आसानी से खेला जा सकता है। कानून बनाने वाले ही कैसे उसका दुरुपयोग करते हैं और अपनी जरूरत एवं सुविधानुसार उसमें फेर-बदल तक कर लेते हैं। यही इसी एकांकी का केंद्रबिन्दु है।

''कियां मुक्कग, कु'न मकाग'' सुतीक्षण कुमार आनंदम् जी का दहेज प्रथा को लेकर लिखा गया एक अलग किस्म का प्रयास है। डोगरा-संस्कृति का प्रतीक बूढ़ा ही एकांकी का स्रोत और आधार पात्र है। लेखक ने नारेबाजी से बचने की काफी कोशिश की है।

''एह् लोक ते एह् लोक'' सुदर्शन रत्नपुरी जी का आज की चूहा दौड़ और पैसों की होड़ को लेकर लिखा गया है। एक साधारण परिवार की कहानी के माध्यम से लेखक ने आज के समय का चित्र खींचने का यत्न किया है, जिसमें काफी हद तक सफल भी हुआ है। कुल मिला कर इस पुस्तक के नौ एकांकी मंच की जरूरतों को पूरा करते हैं। ''लोक सेवा''-शिव राम दीप जी का एक राजनीतिक व्यंग्य है। बड़ी सफलता से लेखक ने इसको लिखा है। शोषण की बारीकियों को इस एकांकी

में उभारा गया है। 1988 के शीराज़ा अगस्त-सितम्बर अंक में डॉ. गौतम व्यथित का ''त्रीया नेतर'' नाम का एकांकी श्री कृष्ण लाल वर्मा जी के संपादन में छपा।

एकांकी ''महन्दी साहे'' की दुकान से शुरू होकर 'रसीलू गद्दी' के घर और गाँव के चौगान तक जा पहुंचा। इसमें एकांकी विधा का, ध्यान नहीं रखा गया। इस लिए इसे हम एकांकी नहीं कह सकते।

इस सदी का आखिरी एकांकी संग्रह 1999 में प्रकाशित हुआ। ''साढ़ा-साहित्य'' का यह एकांकी अंक डॉ. ओम गोस्वामी जी के संपादन में जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकैडमी ने प्रकाशित किया। उन्होंने संपादकी में विशेष तौर पर इस बात का उल्लेख किया है कि डोगरी की परीक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की जरूरत को पूरा करने के लिए अकैडमी ने कुछ विशेष अंक प्रकाशित किये हैं। यह एकांकी अंक उसी सिलसिले की एक कड़ी है। इसमें प्रकाशित एकांकी पहले विभिन्न निजी सरकारी संग्रह में छप चुके है। ये आठ एकांकी- 1. ''दर्द अपना-अपना''- नरसिंह देव जम्वाल, 2. ''अगला पाठ''- ओम गोस्वामी, 3. ''घुंडियां''- विश्वनाथ खजूरिया, 4. ''गूंज''-प्रो. मदन मोहन शर्मा, 5. ''कर्तव्य''- जितेंद्र शर्मा, 6. ''ऐतवार दी सैर'' -नरेंद्र खजूरिया, 7. ''बजट दा भविक्ख''- देवरत्न शास्त्री, 8. ''चुत्थो मुंह् जुक्कें दा''- शिव दोबलिया।

डुग्गर में एकांकी-मंचन की परंपरा न होने के बावजूद भी इतने और इस तरह के एकांकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि हैं। इस काफिले में नये नाम भी लगातार जुड़ते जा रहे हैं। हां नुक्कड़ नाटक के लेखन में अभी वैसी तेजी नहीं आई।

नुक्कड़ नाटक का जन्म इस क्रांति के पहले जन्म दिवस पर किये गये भायाकोत्सकी के नाटक को ही माना जा रहा है और भारत में इसका जन्म बंगाल के अकाल से हुआ और डुग्गर में 1979 ई. में सकाई लेव के गिरने के खतरे से इसका जन्म हुआ। वैसे लोक-परम्परा की विरासत में भी नुक्कड़ नाटक ढूंढ़ा जा सकता है।

डोगरी में नुक्कड़ नाटकों की एक ही किताब श्री मोहन सिंह जी की ''सत्त जमां सत्त'' प्रकाशित हुई है। जिसमें चौदह नुक्कड़ नाटक सम्मिलित हैं। नुक्कड़ नाटक खेलने का चलन श्री मोहन सिंह और उनके साथियों ने डुग्गर में शुरू किया। इतना जरूर कहूंगा कि डोगरी में नुक्कड़ नाटक की शिखर संभावनाओं से इंकार नहीं किया जा सकता।

ooo

डोगरी-नाटक एवं रंगमंच

□ डॉ. सुधीर महाजन

किसी भी पेड़ के हरे-भरे रहने तथा उसकी जड़ों की गहराई तथा फैलाव के लिए जैसे खाद्य-पानी तथा मिट्टी की अत्यन्त आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी भाषा, कला तथा संस्कृति के लिए किसी समृद्ध परम्परा का होना अत्यावश्यक होता है। कोई भी भाषा, साहित्य या समाज कितना सभ्य है, यह हमें उस भाषा में लिखे गये नाटक से पता चलता है। संस्कृत-नाटक तथा ग्रीक-नाटक इस बारे में बहुत बड़े उदाहरण हैं। पूरा पाश्चात्य-नाटक एवं रंगमंच ग्रीक नाटक और रंगमंच से प्रभावित है। इसी तरह पूरे एशिया का नाटक तथा रंगमंच संस्कृत नाटकों से प्रभावित है। यहां एक ओर ग्रीक में हमें सोफोम्लीज़ तथा युरिपीजिज़ की परम्परा मिलती है, वहीं दूसरी ओर संस्कृत-नाटकों में कालिदास तथा शूद्रक जैसे नाटककारों की परम्परा भी दिखाई देती है। यह बात गौरतलब है कि अगर इन नाटककारों से पूर्व इन देशों में लोक-नाटकों की परम्परा न होती तो शायद आज हमारे सामने 2500 साल पूर्व की लिखित नाट्य-परम्परा भी न होती। नाटक तथा रंगमंच की परम्परा इन देशों में किसी-न-किसी रूप में रही है। चाहे वह अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों या फिर देवी-देवताओं को खुश करने से ही सम्बन्धित क्यों न हो। रंगमंच का सीधा सम्बन्ध समाज से होता है और सभी कलाओं में से रंगकला ही एक ऐसी कला है जो दर्शकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है। तथा इस विधा में न ऐसा योग है, न कर्म, न शास्त्र, न शिल्प अथवा अन्य ऐसा कोई कार्य नहीं जिसका नाटक में उपयोग न हो! भारतीय-नाटक 'रस' प्रदान है और पाश्चात्य-नाटक भाव विरेचन प्रदान है जिसे अंग्रेज़ी में 'कथारसिस' कहा जाता है।

नाटक देखा जाता एवं सुना जाता है। नाटक की प्रमुख विशेषता उसकी दृश्य-श्रव्यता है। दृश्य-श्रव्य के सिद्धान्त ही रंगमंच का सैद्धान्तिक स्वरूप है। नाटक और उसके प्रदर्शन में अन्योन्याश्रित संबंध है। नाटक की पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदर्शन में ही होती है। अतः रंगमंच नाटक की कसौटी है। रंगमंच का मतलब मात्र स्टेज या थियेटर ही नहीं या सौंदर्य-प्रसाधनों, रंगीन प्रकाश व्यवस्था, रंग-

बिरंगे परदों अथवा पोशाकों से नहीं अपितु 'रंगमंच' जीवन की उन विविध स्थितियों से सम्बन्धित है, जिन्हें दृश्य-काव्य के माध्यम से हम मंच पर घटित होते देखते हैं। अत: रंगमंच से तात्पर्य सिर्फ स्थूल वस्तु से नहीं बल्कि रंगमंच से संबद्ध विविध साधन एवं प्रवृत्तियों से है।

डोगरी रंगमंच तथा नाटकों में हमारे पास उतनी समृद्ध परम्परा नहीं जितनी दूसरे प्रदेशों में जैसे बंगाल की यात्रा, उत्तरप्रदेश की नौंटकी, महाराष्ट्र के तमाशे या गुजरात की भवई में। यही कारण है कि आज हमारे पास अपनी लोक-रंग शैलियों में लिखे गये नाटक बहुत कम हैं। शायद चार-पांच से ज़्यादा नहीं। जबकि जागरना, जात्तर, हरण, भगतिया, डुग्गर की प्राचीन लोक-रंग शैलिया हैं। अभी तक की उपलब्ध जानकारी के अनुसार सन् 1935-36 में श्री विश्वनाथ खजूरिया ने डोगरी के प्रथम नाटक 'अछूत' की रचना की। यह नाटक लघु-नाटक की श्रेणी में आता है और यह रामनगर में खेला भी गया था! फिर 1948 में 12 वर्षों के पश्चात् श्री रामनाथ शास्त्री द्वारा लिखित नाटक 'बावा जित्तो' के साथ-साथ तीन नाटक लिखे गये जिनमें बावा जित्तो के मंचन की प्रमाणकिता ही सामने आती है। 1957 में 'नमां ग्रां' नाटक लिखा गया जिसे फुल लैंथ या पूर्ण-नाटक कहा जा सकता है और इससे पूर्व के नाटक पूर्ण नाटक (Full Length) के मापदण्ड पर पूरे नहीं उतरते। नाटक ''नमां ग्रां'' तथा बावा जित्तो में कुछ संशोधन करके इन्हें प्रकाशित भी कर दिया गया है। इधर इस नाटक यानि 'नमां ग्रां' के बारे में इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता कि यह डोगरी की मूल रचना न होकर, भारत सरकार द्वारा आज़ादी के उपरान्त नयी चेतना जागृत करने के उद्देश्य से इस नाटक की रचना की गयी थी, जिसका मंचन अनेक गांवों में किया गया था। इस नाटक की रचना श्री रामकुमार अबरोल, श्री दीनूभाई पन्त तथा प्रो. रामनाथ शास्त्री ने की थी। डोगरी में नाटक तथा रंगमंच की शुरुआत इन्हीं प्रयासों के साथ की गयी थी। दीनूभाई पंत द्वारा लिखित रचना 'सरपंच' लेखन और मंचन के स्तर पर डोगरी साहित्य एवं मंचन में एक विशेष महत्त्व रखता है। इसके उपरान्त दीनूभाई पंत द्वारा रचित नाटक 'संझाली', रामकुमार अबरोल द्वारा 'देहरी', धर्म चन्द प्रशान्त द्वारा 'देवका जन्म' वेद राही द्वारा ''धारें दे अत्थरूँ'' इस बात का प्रमाण तो देते हैं कि डोगरी लेखकों में नाटक लिखने की रुचि तो बढ़ रही थी परन्तु इन नाटकों में कोई भी नाटक मील पत्थर न बन सका। यद्यपि आगे चलकर दीनू भाई पन्त द्वारा लिखित रचना 'अयोध्या' जिसका पहले 'ककेई' नाम था को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी दिया गया तथा यह डोगरी का प्रथम पुरस्कृत नाटक है।

नाटक की कसौटी उसके मंचन में होती है। सन् 1935 से 60 तक यद्यपि बहुत ज़्यादा नाटकों की सूची हमारे पास नहीं है फिर भी दो-तीन नाटकों से ज़्यादा नाटक मंच पर इतने सफल नहीं हो सके। सन् 1960 के दशक में ही रियास्ती कल्चरल अकादमी अस्तित्व में आई, जिसमें ड्रामा फेस्टिबल की शुरुआत की गई और मंचन को प्रोत्साहन मिलने लगा और इसमें इनाम पाने की लालसा में हिन्दी या दूसरी भाषाओं के नाटक भी अनुवादित होकर मंच पर खेले जाने लगे। परन्तु उस समय भी कुछ ड्रामा क्लबों ने जैसे फ्रेन्डस क्लब ने मूल डोगरी नाटक खेलने में ही अपनी समर्पिता दिखाई। आज भी नाट्य-समारोहों में डोगरी के बहुत कम नाटक खेले जाते हैं।

डोगरी-नाटक तथा रंगमंच के आन्दोलन की स्थिति की संरपच नाटक के बाद की बात की जाए तो 70-80 के दशक में नाटक 'आन मर्यादा', 'मण्डलीक', 'टब्बर टौर', 'अल्हड़ गोरी, वीर सिपाही', 'ढौन्दियां कंधा', 'न्हेरियां चूकां नमी लो' और 'धारा गूंजी पेइयां' नाटकों का मंचन बड़ी बखूबी से किया गया। इन्हीं दशकों में दो ग्रुपों ने भी डोगरी नाट्य-लेखन तथा रंगमंच में अपनी समर्पिता दिखाई। जिन में डुग्गर-मंच तथा नाट्य-शाला थे। इन्होंने सभी नाटक डोगरी में लिखे भी और मंचित भी किए। जिनमें डुग्गर मंच के नाटक 'बावे', 'दना सोचो ते सेही' 'अपनी डफली अपना राग', 'काला सूरज' हैं। इनमें से एक नाटक साहित्य अकादमी से पुरस्कृत है तथा दूसरा स्टेट अकादमी द्वारा तथा 'पंज कल्यानी,' 'इक लड़ाई होर' तथा 'समय ओ समय' का बहुत ही सफलतापूर्वक मंचन हो चुका है। तथा दूसरे ग्रुप नाट्यशाला ने 'कलयुग दा परमात्मा', 'काल चक्र', 'कर्मयोगी', 'कठपुतली' तथा 'कैसी धरती कैसे लोग' का मंचन भी किया। इसके अतिरिक्त कुछ और ग्रुपों ने भी डोग्ररी के नाटक खेले जिनमें 'राक्षस ते राजे दी बेटी' भी हैं। 'इक परछामां बदली दा, जीने दी कैद', 'इक टुकड़ा जमीन दी तपाश, बावा अम्बों' आदि हैं। यह बात भी गौरतलब है कि रियास्ती कल्चरल अकादमी ने जहां नाट्य लेखन को बढ़ावा देने के लिए सर्वश्रेष्ठ स्क्रिप्ट एवार्ड घोषित किए वहीं दूसरी ओर डोगरी नाट्य-समारोहों के बारे में कभी गम्भीरता नहीं दिखाई और आज 50-55 साल गुज़र जाने के बाद भी कभी कोई डोगरी नाट्य-समारोह आयोजित नहीं हो सका जिस पर आज भी संजीदगी से सोचने की जरूरत है।

सन् 1980 से आज तक का काल डोगरी-नाटक एवं रंगमंच के इतिहास में एक खास महत्त्व रखता है। यहां एक ओर डोगरी नाटककारों ने दर्जनों नाटकों की सृजना की जिनमें मोहन सिंह, नरसिंहदेव जम्वाल, मदनमोहन शर्मा, रतन दोषी,

शिवदेव सुशील, पवन खजूरिया, कुमार ए भारती, रजनीश गुप्ता, डॉ. ज्ञान सिंह, श्री ध्यान सिंह, जगदीप दुबे, सुर्दशन खजूरिया आदि का नाम उल्लेखनीय है। वहीं दूसरी और कुछ नये ग्रुपों की स्थापना भी की गयी, जिनमें नटरंग, ऐमच्यौर थियेटर ग्रुप, रंगयुग, समूह थियेटर आदि हैं। नटरंग थियेटर द्वारा नाटक 'बावा जित्तो', 'घुमाई' का मंचन कई राष्ट्रीय नाट्य-समारोहों में किया गया। इसी तरह रंगयुग द्वारा नाटक 'आले' का मंचन लाहौर में किया गया, अजयका द्वारा नाटक 'दिन-वार' का मंचन नार्थज़ोन समारोह में किया गया। इसी तरह ऐमच्योर थियेटर द्वारा नाटक 'देवयानी का मंचन भी कुछ राष्ट्रीय नाट्य-समारोहों में किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरी भाषाओं के नाटकों के डोगरी अनुवादों को राष्ट्रीय नाट्य-समारोहों में बखूबी मंचित किया गया। जिसमें नंटरंग द्वारा 'महा भोज,' ऐमच्योर थियेटर द्वारा 'मल्लिका', समूह थियेटर द्वारा 'अद्धा सच्च' इसके अतिरिक्त समूह थियेटर द्वारा डोगरी में अनुवादित कई नाटकों का सफलतापूर्ण मंचन किया गया। जिनमें प्रो. रामनाथ शास्त्री द्वारा 'अन्नायुग, मिट्टी दी गड्डी, मतविलास, भगवद्अज्जुकीयम, डाकघर, तथा अपने द्वारा अनुवादित नाटक, अजनवी, ईदगाह, कफन तथा डैडी गवाची गये' के प्रदर्शन उल्लेखनीय हैं। भले ही इन संस्थाओं तथा इनके कलाकारों द्वारा डोगरी रंगमंच को राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाने लगा परन्तु आज भी मात्र डोगरी में ही नाटकों का मंचन किया जाए ऐसी कटिबद्धता किसी भी ग्रुप में नहीं है।

अगर डोगरी नाटक तथा रंगमंच के इतिहास को 1955-1980 तक तथा 1981 से 2005 तक दो हिस्सों में बांट कर देखें तो पता चलता है कि यह डोगरी-नाटक तथा रंगमंच की थोड़े से अवधिकाल में बहुत बड़ी उपलब्धियां हैं। आज डोगरी में पचास से ज़्यादा मूल नाटक हैं और लगभग इतने ही विभिन्न भाषाओं के अनुवादित नाटक हैं। अगर डोगरी-नाटक तथा रंगमंच का भूतकाल गौरवमयी है, तो आशा की जा सकती है कि भविष्य भी गौरवमयी ही होगा। परन्तु सरकार को एक 'कल्चरल पालिसि' बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है ताकि कला तथा कलाकार दोनों ऊपर उठ सकें।

ooo

कश्मीर में नाटक लेखन परम्परा

❑ मूल० : मोती लाल क्यूम

अनु० : डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स

कश्मीर में ईस्वी की दूसरी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत नाटकों के सृजन की बड़ी गौरवशाली और समृद्ध परम्परा रही है। इसके साथ-साथ कई नाट्याचार्यों ने उनका समय-समय पर मंचन भी करवाया और कई विद्वानों ने भरत के नाट्यशास्त्र की टीकाएं और भाष्य भी लिखे। कल्हण के अनुसार द्वितीय शताब्दी में चन्द्रक कवि जिसे कल्हण महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास का अवतार मानता था, ने कुछ संस्कृत नाटक रचे थे जो समाज के हर वर्ग के लिए उपयोगी थे। कल्हण की राजतरङ्गिणी की दूसरी तरङ्ग के 19 वें श्लोक के अनुसार दशम शताब्दी में आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा इस विषय में रचित अभिनव भारती सबसे उत्तम मानी जाती है।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार चन्द्रक कवि के सभी रूपकों में वीर और रौद्ररस तो अङ्गी हैं जबकि शेष सभी रस अङ्ग के रूप में अभिव्यक्त हैं। उस महान नाटककार के नाटकों में से कुछ श्लोक कश्मीर के प्रसिद्ध आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी टीकाओं में उद्धृत किए हुए हैं। यह नियति की बहुत ही दुखद विड़म्बना है कि चन्द्रक द्वारा रचित नाटकों में से आज एक भी उपलब्ध नहीं है।

कश्मीर का यशोवर्मन नामक राजा भी बड़ा प्रसिद्ध नाटककार था। इसी प्रकार अवन्ती वर्मा के राज्यकाल में शिवस्वामी नामक कवि भी बड़ा कुशल नाटककार था। कई महाकाव्यों की रचनाओं के अतिरिक्त उसने प्रकरण (नाटक विधा का एक भेद) तथा लघु नाटिकाएं भी रची थीं। श्यामलक नामक कवि ने पदातिक नामक 'भाण' की रचना की थी। उसका समय ईसा की पांचवीं शताब्दी माना जाता है। भाण नाटक में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता रहती है। नाटक की इस विधा में केवल एक ही पात्र होता है, जो प्रश्नों और उत्तरों की शैली में अभिनय करता है। आज की भाषा में भाण नाटक को एक पात्री नाटक कहते हैं। भाण नाटक का अभिनय करने वाला

अपनी कला में सर्वतोमुखी प्रतिभा का स्वामी होता है। वह अपने अभिनय द्वारा जो कुछ भी प्रदर्शित करता है। उससे वह अपने दर्शकों को पूर्णतया सावधान करता रहता है। क्योंकि यह एक पात्री नाटक होता है, इसलिए इसमें अभिनय भी उसी के अनुसार होता है। आज तक हमें संस्कृत के केवल चार भाण नाटक ही उपलब्ध हुए हैं जिनका सामूहिक नाम चतुर्वाणी है। इनमें पदातिक सर्वप्रथम माना जाता है।

क्षेमेन्द्र (990-1055 ई०) जिसे जनसाधारण का कवि माना जाता है, ने ये तीन नाटक रचे थे- 1. ललित रत्न माला (जिसकी कथावस्तु राजा उदयन से सम्बन्धित है और जिसका स्रोत बृहत्कथा है), 2. कनक जानकी (इसका आधार वाल्मीकि रामायण की एक घटना है), 3. चित्रभारत (इसका आधार महाभारत है) दुर्भाग्य से आज ये तीनों नाटक उपलब्ध नहीं हैं। अपनी अन्यतम रचना कवि कण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र अपने इन नाटकों के कुछ श्लोक उद्धृत भी करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये तीनों उपरूपक (नाटिकाएं) की श्रेणी में आते हैं। इनमें शृङ्गार और वीर रस प्रधान हैं।

विक्रमाङ्क देव चरितम् नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य का रचयिता विल्हण (1028-1090 ई०) भी कश्मीर का एक प्रख्यात कवि था। उसने भी 'कर्णसुन्दरी' नामक चार अङ्कों वाली नाटिका रची थी। इस नाटिका पर कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् तथा हर्षवर्द्धन की रत्नावली नाटिका का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है। 'प्रभावती प्रद्युम्न' नामक एक और संस्कृत नाटक छपने के बाद ही प्रकाश में आया था। परन्तु प्रो० पृथिवी नाथ पुष्प के बाद रिसर्च और पब्लिकेशन विभाग में कोई योग्य निदेशक न आने के कारण यह नाटक भी विद्वानों के सामने नहीं आया और संस्कृत तथा शारदा लिपि में लिखित पाण्डुलिपियों के भावी प्रकाशन आदि का काम भी एक प्रकार से ठप्प ही हो गया।

कश्मीरी महिलाओं की प्रशंसा करता हुआ कवि विल्हण कहता है कि वे नाट्य प्रयोगों में स्वर्ग की रम्भा, चित्रलेखा तथा उर्वशी को भी पीछे छोड़ने की क्षमता रखती हैं। यद्यपि कवि विह्लण के इस कथन में अतिशयोक्ति हो, परन्तु इससे यह तथ्य तो स्वतः प्रमाणित हो ही जाता है कि उस समय क़श्मीरी कलाकार महिलाएं नाट्य प्रयोग में अपना सानी नहीं रखतीं थीं।

सातवीं शताब्दी से पहले रचित विष्णु धर्मोत्तर पुराण और नीलमत पुराण दोनों ही कश्मीर और उसके आसपास के राज्यों की सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था के बारे में बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं। अपने एक अध्याय में विष्णु धर्मोत्तर पुराण

ललित कलाओं, रूपकों के दस भेदों नृत्य की अनेक मुद्राओं, संगीत के विविध प्रकारों तथा साहित्य में सौन्दर्य की महती उपयोगिता आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। एक विश्वकोश सदृश यह रचना शिक्षा एवं ज्ञान की लगभग सभी शाखाओं पर प्रकाश डालने के कारण अतीव महत्त्वपूर्ण स्रोत का काम करती है। इसी प्रकार कश्मीरी समाज के विविध पक्षों के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराने के कारण नीलमत पुराण भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अनुसार कश्मीर में कोई भी उत्सव नृत्य-संगीत आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों के बिना अधूरा ही समझा जाता है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर के लोग विविध कलाओं, रंगमंचीय कार्यक्रमों के साथ जुड़े कलाकारों को हर प्रकार का प्रोत्साहन और संरक्षण ही नहीं देते थे, अपितु धन, वस्त्र एवं प्रेक्षाधन देकर उनका सम्मान भी किया करते थे। परिणामतः नाटकों के कुछ प्रकार रचे भी जाते थे और विशेष अवसरों पर उनका मंचन भी किया जाता था। विशेषकर बुद्ध पूर्णिमा, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तथा भगवान शिव से सम्बन्धित त्योहारों पर तो कुछ विशेष नाटकों का विशेष रूप से मंचन किया जाता था। इसलिए कहा जा सकता है कि जातक कथाएं, शिव लीलाएं तथा बाद में श्रीकृष्ण तथा राम लीलाएं भी कुछ विशेष अवसरों पर मंचित की जाती थीं। क्योंकि इस प्रकार के सामाजिक या धार्मिक उत्सव लोगों द्वारा ही आयोजित किए जाते थे, अतः लेखक भी ऐसे अवसरों के स्वभावनुसार ही अपने नाटकों की रचना किया करते थे, परन्तु वे अपने नाटकों की पाण्डुलिपियों को इस आशा से सम्भाल कर नहीं रखते थे कि अग्रिम वर्ष फिर नये नाटक रचने ही हैं। आश्चर्य है कि यह परम्परा किसी न किसी रूप में अब भी जीवित है। जब कोई लेखक अपना नाटक लिखता है तो वह प्रायः उसे 'रफ' रूप में इसलिए रखता है ताकि कलाकार उसके मंचन से पहले उसमें अपने ढंग से स्वयं सुधार कर लें। जो नाटक प्रसिद्ध कवियों या लेखकों द्वारा लिखे जाते थे वे पूर्णतया भरत के नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार ही लिखे जाते थे पर अब वर्तमान परिस्थितियों को ध्यानगत करते हुए नाट्यविधा में नये प्रयोग भी किए जाते हैं। जयन्तभट्ट (850-902ई०) ने जो 'आगमादम्बरम्' नामक नाटक लिखा था। वह पूर्णतया दार्शनिक पद्धति पर आधारित होने के कारण भरत के नाट्य शास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं है।

उक्त नाटक यद्यपि चार अङ्कों का है, परन्तु तो भी इसे भरत के नाट्य-शास्त्र के नियमों पर आधारित रूपक नहीं माना जा सकता। इस नाटक में उन विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों का दिग्दर्शन करवाया गया है। जिनका राजा शङ्कर वर्मन के राज्यकाल में कश्मीर घाटी में बहुत अधिक प्रचार था। यह नाटक यद्यपि मुख्यतः श्रीनगर के परिवेश पर आधारित है, परन्तु इसका चौथा अङ्क रामस्वामिन् मन्दिर के परिवेश पर

आधारित है। इस नाटक में जिन पांच दार्शनिक प्रस्थानों की विचार धाराओं का बड़े नाटकीय ढंग से दिग्दर्शन कराया गया है, वे इस प्रकार हैं–बौद्ध दर्शन (अर्हत), चार्वाक, मीमांसा, न्याय (शैवदर्शन सहित) तथा आगम (पञ्चरात्र)। इससे निश्चय ही जयन्त भट्ट की विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में गहरी पैठ का पता चलता है।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका नायक न तो कोई राजा है, न कोई देवता और न कोई प्रख्यात व्यक्ति, अपितु एक स्नातक जिसने अपना अध्ययन सधः सम्पन्न किया हो और फिर यह भी विचारणीय है कि इस नाटक में न कोई नायिका ही है और न ही विदूषक। स्पष्ट है कि इस नाटक में भरत के नाट्यशास्त्र के कई नियमों का पालन नहीं किया गया है। प्रारम्भ में सूत्रधार सन्देह व्यक्त करता है कि सम्भव है कि नाट्य-कला के मर्मज्ञ इस नाटक में नाट्य-कला की कमियों का उल्लेख करें परन्तु क्योंकि यह नाटक नाटक के रचयिता जयन्तभट्ट के शिष्यों द्वारा उसके पास मंचन के लिए लाया गया है और फिर साथ ही इसे देखने के लिए दर्शक भी न्याय-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं, अतैव इसका आज मंचन किया जा रहा है।

राजा कलश के राज्यकाल में उपङ्ग गीतों को तो बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला था, जबकि नाट्य-शास्त्र रचना और नाट्य-मंचन की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया था। हां, उस समय कुछ प्रबन्ध-काव्य और चरित-काव्य अवश्य रचे गए थे। सम्भवतः उस काल में पात्रों को मंच के ऊपर बुलाकर उन्हें मात्र अपनी संगीत-कला का प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था।

जैन-उल-अब्दीन बडशाह के राज्यकाल में कश्मीरी भाषा में रंगमंच के लिए उत्तसोम के द्वारा एक चरित रचा गया था। श्रीवर अपनी राजतरङ्गिणी में लिखते हैं "योधभट्ट कश्मीरी भाषा का कवि है, जिसने 'जैन प्रकाश नामक' नाटक लिखा है, जो शीशे के समान साफ-सुथरा है। इस नाटक में बादशाह के शासन प्रबन्ध के बारे में भी विस्तार से चर्चा की गई है।

बारहवीं शताब्दी के बाद कश्मीर में पहले जैसी स्थिति नहीं रही। उस अवधि में लगातार होने वाले बाहरी आक्रमणों के परिणाम स्वरूप बलपूर्वक धर्म परिवर्तन, नदियों में आने वाली बाढ़ों से, दंगे-फसादों से, अग्निकाण्डों से और संक्रामक रोगों के फैलने से कश्मीर के लोगों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। इतना ही नहीं आपत्तियों से भरे उन दिनों कश्मीर में अमूल्य ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों की भारी हानि हुई। परिणामतः वहां नाट्य-रचना की परम्परा पर भी वज्राघात हुआ।

परन्तु इसके बावजूद एक सुखद स्थिति यह रही कि 'भण्डनाट्यम्' नाम से प्रसिद्ध मंचीय लोक-नाट्य परम्परा यथावत् चलती ही रही। इस परम्परा को हम 'भण्डपाथर' नाम से जानते हैं। मुस्लिम राजाओं के शासन काल में भी 'भण्ड' लोक-मनोरजंन के अति प्रसिद्ध साधन थे। वे घुमक्कड़ कलाकार केवल कश्मीर घाटी में ही अपनी कलाओं का प्रदर्शन नहीं करते थे, अपितु पीर पञ्चाल पर्वत को पार करके जम्मू, हिमाचल प्रदेश, पंजाब तथा भारत के कई अन्य प्रदेशों में जाकर भी अपनी हास्य-व्यंग्य से ओत-प्रोत कलाओं का प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन किया करते थे।

II

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में घाटी में नवीन शैक्षणिक संस्थाओं के स्थापित होने से आधुनिक शिक्षा के प्रसार से महाविद्यालयों तथा विद्यालयों में जब छात्रों की कलाओं तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के प्रति भी रुचि बढ़ाई जाने लगी तो अपनी संस्थाओं में छात्रों द्वारा वर्षावधि में कम-से-कम एक बार तो नाटकों का मंचन अवश्य किया जाने लगा। इससे विशेष रूप से नाट्य-कला के प्रति जागरूकता उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी। 1924-25 ई० में जब महाराजा हरिसिंह का राज्याभिषेक उत्सव आयोजित किया जा रहा था तो पुरानी मण्डी के खुले मैदान में जनसाधारण के मनोरंजनार्थ नाटकों का मंचन करवाने के लिए मुंबई से एलफ्रेड कम्पनी को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। वहां नाटक का सफल मंचन देखने के बाद तत्कालीन महाराजा प्रतापसिंह ने इच्छा प्रकट की थी किं जम्मू और श्रीनगर (कश्मीर)में भी लोगों के मनोरंजनार्थ नाटकों का मंचन करने के लिए इस प्रकार की स्थानीय कम्पनियां तैयार करनी चाहिए। उसके तुरन्त बाद एक अवैतनिक नाट्य मण्डली अमेच्योर ड्रामेटिक कम्पनी की स्थापना की गई थी। जिसके संरक्षक स्वयं महाराजा प्रतापसिंह थे। इस कम्पनी ने सबसे पहले आगा हश्र कश्मीरी द्वारा लिखित नाटक का सफलतापूर्वक मंचन किया था। उसके एक वर्ष बाद बेताब तथा अन्य उर्दू नाटककारों के नाटकों का भी श्रीनगर तथा जम्मू में मंचन किया गया। पारसी शैली में लिखे गए नाटक-जैसे बिल्व मंगल, सूरदास, महाभारत, बेवफा-कातिल, खूबसूरत बाला, यहूदी की लड़की, वीर अभिमन्यु, अछूत कन्या और दानवीर कर्ण आदि लिखे भी गए थे और साथ-ही-साथ मंचित भी किए गए थे। यह क्रम सन् 1937 ई० तक चलता रहा। परन्तु कुछ समय के बाद वह अवैतनिक नाटक क्लब सरकारी अधिकारियों एवं वेतन भोगी कलाकारों के अधिकार में आ गया था। उन्हीं दिनों कुछ और रंगमंचीय कम्पनियां एवं क्लब अस्तित्व में आईं थीं। ये क्लब कुछ उत्साही युवाकलाकारों द्वारा स्थापित किए गए थे, जिन्होंने श्रीनगर के अतिरिक्त

बारामूला तथा अनन्तनाग में बेताब एवं आगा हश्र कश्मीरी के नाटकों का समय-समय सफल मंचन किया था। 1929 ई० नन्दलाल कौल 'नाना' ने पारसी शैली में 'सतुच कहवुट' नामक नाटक की रचना की थी। जिसकी भाषा कश्मीरी थी। उस नाटक का आधार या प्रेरणास्रोत राजा हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध पौराणिक कथा था। उस नाटक का मंचन पहली बार 1930 ई० में श्रीनगर में किया गया था।

नाना कौल ने दईलोल, रामुनराज, प्रह्लादभगत आदि कई नाटकों की रचना भी की थी। जी. एम. डी. सूफी के अनुसार ये सभी नाटक प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन सभी में 'सतुच कहवुट' नाटक इतना अधिक लोकप्रिय हो गया था कि उसका मंचन कई रंगकर्मी दलों द्वारा 1955 ई० तक लगातार किया जाता रहा। इसके बाद दीनानाथ 'मदरेर' तथा सुदामा कौल प्रसिद्ध नाटककारों के रूप में सामने आए, जिन्होंने यद्यपि पारसी शैली के आधार पर अनेक नाटक रचे परन्तु उनमें से एक भी प्रकाशित नहीं हो सका। श्री जे. एन. बाली ने हब्बा खातून के विषय में 'जून' शीर्षक से एक नाटक लिखा था, जो 1950 ई० में प्रकाशित हुआ था। श्री तारा चन्द 'बिस्मिल' नामक कवि नाटककार ने भी कश्मीरी भाषा में 'सतुज-वथ' शीर्षक से जो नाटक लिखा था वह स्थानीय रंगकर्मियों द्वारा कई बार मंचित किया गया था। यह नाटक प्रकाशित भी हो गया था। तदनन्तर पारसी शैली के अनुसरण पर जो पौराणिक कथाओं पर आधारित कश्मीरी भाषा में नाटक लिखे गये थे। उनमें से कुछ प्रसिद्ध इस प्रकार है-प्रह्लाद, सत्यवान- सावित्री, श्रीकृष्ण जन्म, शङ्कर-पार्वती, तपस्या और शिवलग्न। ये नाटक समय-समय पर रघुनाथ मन्दिर, फतेहकदल, चोटा बाज़ार, रैणावाड़ी, शीतलनाथ, बारामूला, अनन्तनाग, मटन और छत्ताबल में 1955 ई० तक मंचित किए गये थे।

गत शताब्दी के पहले चालीस वर्षों में कुछ अवैतनिक रंगकर्मी गिरोह आगे आए जिन्होंने क्रमशः एक के बाद दूसरे सामाजिक विषयों पर कई नाटक लिखे और मंचित भी किए। श्री त्रिलोकी नाथ वैष्णवी 'रफ़ीक' ने कश्मीरी भाषा में दो नाटक लिखे जिनके शीर्षक हिन्दी भाषा के अनुसार थे। जैसे चित्र और समाज की भूल। 'विधवा' एक ऐसा नाटक था जो भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले लिखा गया था। यह सर्वप्रथम श्री मोहन लाल ऐमा के निर्देशन में बड़ी सफलता से मंचित भी हुआ था। श्री ऐमा ने विधवा के प्रतिपक्ष में मुख्य भूमिका भी स्वयं निभाई थी एवं इसके लिए संगीत भी स्वयं दिया था। इस नाटक के गीत मुस्लिम कवि ''आसी'' ने लिखे थे।

श्री सर्वानन्द भान मुख्यतः खेलों और सांस्कृतिक विषयों में रुचि लेने वाले व्यक्ति थे। वह सदा युवा कवियों और लेखकों को किसी भी ज्वलंत सामाजिक

विषय पर सोचने और लिखने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे ताकि बाद में उनके लेखों को नाटक का रूप दिया जा सके। 'औलाद' तथा कुछ अन्य नाटक उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में लिखे और मञ्चित किये गए थे। उन दिनों नाटक लेखन और उनका मंचन लेखकों के सामूहिक प्रयास का प्रतिफल हुआ करता था। अर्थात् कवि, लेखक, संगीतज्ञ, रंगकर्मी (कलाकार) तथा उत्साही सहयोगी सभी मिलकर काम किया करते थे, जो एक सुखद स्थिति थी। पारसी और उर्दू नाटकों की धमाकेदार और रक्तपात वाली शैली के स्थान पर कश्मीरी नाटककारों की शैली में लिखे गए वार्तालापों के गद्य में बड़ी सरलता तथा स्वाभाविकता थी। इसके अतिरिक्त उन दिनों नाटकों के लिए लिखे गए गीत भी प्रसिद्ध फिल्मी गीतों की तर्ज पर हुआ करते थे। मंजी म्योर (विवाह सम्बन्ध पक्के करवाने के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला) की भूमिका मुख्य रूप से शहीद टी. एन. टप्पलू, स्व० एस. एन. सुम्बली तथा पद्म श्री पुष्कर भान निभाया करते थे।

1947 ई० में कबालियों के आक्रमण के बाद कुछ प्रसिद्ध कवि, लेखक, कलाकार और रंगकर्मी संस्कृति महाज़ पर एकत्रित होकर अपने नाटकों और गीतों के माध्यम से स्थानीय समस्यायों पर विचार करने लगे थे। रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए कुछ कामचलाऊ नाटक भी लिखे गए थे। यद्यपि बाद में रंगमंच के अनुसार उनमें सुधार किया गया था। बाद में संस्कृति महाज़ को सांस्कृतिक सम्मेलन नाम दिया गया था और प्रगतिवादी विचारधारा की प्रवृत्तिओं को प्रकाश में लाने पर बल देने के साथ-साथ युवा कलाकारों को रंगमंच के लिए प्रोत्साहित करने के साथ-साथ स्थानीय समस्यायों को भी उजागर करने के लिए जन-रंगमंच को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया। खुले रंगमंचों की प्रस्तुति मुख्यतः लघुगीतों द्वारा ही की जाती थी। परिणामतः अनेक कलाकार उस सम्मेलन के साथ आकर जुड़ते गए। जिससे उन्हें आकाशवाणी कश्मीर में नौकरी प्राप्त करने में भी लाभ हुआ। यद्यपि इससे रंगमंच के लिए लिखने के लिए प्रोत्साहन तो मिला परन्तु वह केवल अत्यल्पकाल के लिए ही था।

1953 ई० में श्री दीनानाथ नादिम ने अपना पहला कश्मीरी संगीत नाटक 'बोम्बुर यम्बरज़ल' जो उसी वर्ष नीडोज़ होटल और एस. पी. कॉलेज में मञ्चित हुआ था। 1956 ई० में उन्होंने 'हीमल नगिराई' शीर्षक से एक संगीत नाटक नूर मोहम्मद रोशन के साथ मिलकर लिखा था और जिसका मंचन हजूरी बाग में खुले मंच की पद्धति से किया गया था।

उस खुले मंच का निर्माण जश्न-ए-कश्मीर कमेटी द्वारा इसी उद्देश्य से किया गया था। इन दोनों नाटकों का मंच निर्देशन श्री मोहन लाल ऐमा ने किया था। उसने

उन संगीत-नाटकों के लिए जो गीत लिखे थे वे आज भी गहन रुचि के साथ गाए और सुने जाते हैं।

उन्हीं दिनों तीन और कश्मीरी नाटक अली मोहम्मद लोन, अमीन कामिल तथा नूर मोहम्मद रोशन द्वारा रचे गए थे। जिनका प्रकाशन जम्मू-कश्मीर के सूचना विभाग द्वारा किया गया था। इन नाटकों की विषय-वस्तु थी, नदियों की बाढ़, उनसे होने वाले दुष्प्रभाव और तबाही तथा लोगों के सक्रिय सहयोग से अली मोहम्मद लोन द्वारा लिखित 'बिज़ छि सॉन्य' का मंचन सांस्कृतिक सम्मेलन द्वारा राज्य सरकार के आर्थिक सहयोग से किया गया था। खेद है कि 1960 ई० तक कुछ इने-गिने लेखक ही मंच के लिए लिखने वाले रह गए थे। परन्तु 1962 ई० में टैगोर भवन के निर्माण से सारा परिदृश्य ही बदल गया था। इसके साथ ही रंगमंच के अग्रिमभाग में आमूल चूल परिवर्तन करके उसे आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न कर दिया गया था। इससे कुछ पहले 1958 ई० में राजकीय कला, संस्कृति और भाषा अकैडमी की स्थापना भी हो चुकी थी। इसका मुख्य उद्देश्य यद्यपि राज्य की कलाओं, संस्कृति और भाषाओं को प्रोत्साहन देना था, पर न जाने क्यों 1964 ई० तक राज्य में रंगमंचीय गतिविधियों में कुछ ढील अवश्य आ गई थी। हां, जब सरकारी प्रोत्साहन से जम्मू-कश्मीर राज्य में वार्षिक नाटक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाने लगा तो 1970 ई० के प्रारम्भ से ही राज्य की उक्त अकैडमी ने भी नाट्य लेखन और नाट्य कार्यशालाओं का आयोजन करना आरम्भ कर दिया था, जिससे इस विधा में फिर से गतिशीलता एवं सक्रियता आई। परिणामतः अधिक संख्या में नाटककार आगे आए और उनके नाटकों का टैगोर भवन में सफलता पूर्वक मंचन भी किया गया। इस प्रकार टैगोर भवन स्वतः ही सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया।

इसके साथ ही अली मुहम्मद लोन और पुष्कर भान ने आकाशवाणी कश्मीर, श्रीनगर के लिए निरन्तर रेडियो नाटक लिखने आरम्भ कर दिये। अली मोहम्मद लोन ने पहले कुछ रूसी नाटकों का उर्दू में भावानुवाद किया और तदनन्तर कश्मीरी भाषा में भी किया। पहले उन्होंने यह कार्य आकाशवाणी के लिए किया और बाद में रंगमंच के लिए 'विज़ छि सॉन्य' के बाद उसने 'सुया' शीर्षक से उर्दू में रेडियो नाटक लिखा। बाद में उसे कश्मीरी भाषा में एक सम्पूर्ण रंगमंचीय नाटक का रूप दिया। उस के ''तक़दीर साज़'' नाटक में ''फ्री थिंकर्स सोसाइटी'' के सदस्य वस्तुतः अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए तथा दूसरे शब्दों में अपनी निजी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए तथा कथित स्वतन्त्र विचारधारा रखने वालों का खूब भण्डा फोड़ा है। सुया के शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इस

में सूत्रधार एक सहायक पात्र है। उसका कश्मीरी भाषा में तीसरा नाटक है 'दुर्लभ पण्डित' यह एक चरित्रनाटक है।

पुष्कर भान ने बेकारी की समस्या को उजागर करने के लिए कई नाटक लिखे। उनका 'हीरो-मचामा' शीर्षक नाटक बड़ा चर्चित रहा है। इसमें बेकारी की समस्या से ग्रस्त युवक चित्रित किया गया है। जो अपनी माता की सेवा की भावना मन में संजोए हुए है, पर उसकी वह अभिलाषा मात्र काल्पनिक स्वप्न ही बनी रहती है। क्योंकि वह जीविका प्राप्त करने की अभिलाषा कभी पूर्ण होती हुई नहीं देखता है, अतः निराश हो जाता है। पुष्कर भान का "हीरो मचामा" एक ऐसा नाटक था जिसका कई बार सफल मंचन हुआ था। अभिनव भारती द्वारा तो इसका लगातार पच्चीस रातों तक मंचन किया गया था।

पुष्कर नाथ भान ने सोमनाथ साधु के साथ मिलकर भी अनेक नाटक लिखे थे, जिनमें "चपाथ" और 'ग्राण्ड रिहर्सल' अति प्रसिद्ध हैं। हास्य-व्यंग्य के अतिरिक्त इन नाटकों का विषय सामाजिक समस्याएं तथा सुधारवाद भी था।

सजूद सैलानी भी आकाशवाणी और रंगमंच के लिए एक साथ लिखता रहा है। इसके 'शिहुल नार, रात करील, गतुरेन्य्, रोपयी रूड़, कज़ॅय रात, गाशि तारुव और वुतर बुन्युल' नाटक रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त सफल माने जाते हैं क्योंकि उनमें कल्पना, हास्य-व्यंग्य तथा उत्तेजना का बड़ा अदभुत समन्वय है।

अवतार कृष्ण रैहबर वास्तव में तो कहानीकार है परन्तु उसने पहले आकाशवाणी के लिए रूपक लिखे और फिर उन्हें रंगमंचीय नाटकों का रूप देकर अपनी सराहनीय नाट्य-कला का परिचय देकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया। उसके रूपकों में समाज की ज्वलन्त समस्याएं उजागर की गई हैं। औलाद, तलाश, वोला हरीश आदि उसके प्रसिद्ध नाटक हैं। परन्तु आश्चर्य है कि वह अब तक अपने नाटकों का एक भी संग्रह प्रकाशित नहीं कर सका है।

प्रो. हरिकृष्ण कौल का 'येली वत्तन खुर छु यिवन' आजकल के पारिवारिक जीवन में टकराव का चित्रण करता है। यह बड़ा ही प्रसिद्ध नाटक है। उनका दूसरा नाटक 'दस्तार' हास्य-व्यंग्य पर आधरित है। उनका तीसरा नाटक 'नाटुक करीब बन्द' एक प्रयोगात्मक नाटक है।

भाण्ड कलाकार मोहम्मद सुब्भान भगत ने 'तकदीर', 'येतीछु बन वून' और 'पोज़ आपुज़' शीर्षक से तीन ग्राम्य-नाटक लिखे तथा 'कनी शेछे, मनटीनी लेओ

पॉज़ू' तथा और कई नाटक लिखे, जो कश्मीरी लोक-शैली पर आधारित हैं। कुछ समय पंहले ही गुलाम रसूल भगत्यार ने अपने लोक-नाटकों का संग्रह प्रकाशित किया है, जिसका शीर्षक है –''सिवित किना सरकारी''

मोती लाल क्यूम ने नाटक लिखना अपनी आयु की अग्रिम-अवस्था में आरम्भ किया था। उसने पहले हिन्दी में लिखना आरम्भ किया, परन्तु बाद में उसने कश्मीरी भाषा में भी श्रेष्ठ नाटक रचे हैं। अब तक उसके आठ नाटक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'तुनोव, छ़ाय लल बो द्रयास लोल रे, नाटक लुचे' और तोता ते ऐना नाटक पुरस्कृत भी हो चुके हैं। उसके 'डख येली चलन' हिन्दी में अनुदित हो जाने के बाद नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा द्वारा 'भाण्ड दुहाई' शीर्षक से प्रस्तुत करने के बाद अब तक दिल्ली, भोपाल, कलकत्ता तथा अन्य नगरों में 34 बार मंचित भी किया जा चुका है।

गुलाम रसूल सन्तोष भी कवि और नाटककार था। उसने भी पहले आकाशवाणी कश्मीर के लिये कुछ रूपक लिखे और बाद में उसने उन्हीं कों रंगमंचीय रूप देकर अपनी नाट्य कुशलता का परिचय दिया। उसके दो नाटक 'अकानन्दुन तथा बुत ता बुलडोज़र' मञ्चित भी हो चुके हैं।

राधाकृष्ण बरारू ने लोकशैली में 'याहू' और 'रेशीवॉर' दो नाटक लिखे जो दोनों कश्मीरी भाषा में हैं। अशोक काक ने कुछ समय पहले 'सथ सोदुर' शीर्षक से एक नाटक संग्रह प्रकाशित किया था। कुछ समय तक उसने इनका सफल मंचन भी करवाया था। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कश्मीरी नाट्य-रचना में चार प्रवृत्तियां (या शैलियां) प्रबल रूप से सामने आई थीं जो इस प्रकार हैं– (1) संगीत-नाटक शैली–जैसे बोम्बुर यवर ज़ाल तथा वितस्ता (2) लोक-नाट्य शैली मनज़िल निकू, हरम खानुक, ऐना, मांनगई, मनटिनी लेअी पानज़ू इत्यादि (3) प्रयोगात्मक नाटक शैली–बुत ता बुलडोज़र, लल बो द्रयास लोलरे, नाटुक करिवे बन्द और चार्य पॅथर (4) हास्य-व्यंग्य तथा सामाजिक विषय शैली प्रधान–चपाथ, ग्राण्ड रिहर्सल, कने शेछय् तथा रोपई रन्द इत्यादि।

1989 ई० में घाटी में उग्रवाद के आने से नाट्य-रचना और नाट्य-मंचन को गहरा धक्का लगा। 1990 ई० में जब घाटी से कश्मीरी पण्डितों का सामूहिक पलायन आरम्भ हुआ तो कई प्रसिद्ध नाटककार तथा नाट्य-रंगकर्मी भी उस पलायन में सम्मिलित होने को विवश हो गए और भारत के विभिन्न नगरों में बिखरकर इधर-उधर अपना आश्रय ढूंढ़ने लगे। इस स्थिति को यदि कश्मीरी नाट्य-रचना का पतन

काल कहा जाए तो समीचीन होगा। अपनी 70 वर्षीय यात्रा में कश्मीरी नाट्य-रचना कार्य ने अपना उत्थान भी देखा और पतन भी। इस अवधि में कुछ उच्चकोटि के नाटक हिन्दी में अनूदित भी हुए। अब तक पच्चीस सम्पूर्ण रंगमंचीय कश्मीरी नाटक और तीन एकांकी नाटकों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। दुर्भाग्य से गत शताब्दी में सभी रंगमंचीय नाटक न तो प्रकाशित किये जा सके थे और न ही दयानतदारी के साथ सम्भाले ही जा सके थे। सम्भवतः घाटी में उस समय न तो नाटक खरीद कर पढ़ने वाले पाठक थे और न ही नियमित रंगमंचीय गतिविधियां ही प्रचलित थीं।

यह तथ्य सर्वविदित है कि नाट्य-रचना एक दुसाध्य एवं कठिन कार्य है। नाटक लिखते समय एक नाटककार को प्रत्येक घटना और पात्रों की मनः स्थिति के साथ जीकर उनसे प्राप्त अनुभूतियों को अपने भीतर खपा-पचाकर ही लिखने का उपक्रम करना चाहिए। यदि वह पात्रों की भूमिका का अभिनय करना नहीं जानता है और न ही उनके वार्तालाप की रची जाने वाली पंक्तियां सुगमता से बोल सकता है तो वह अपना यथेष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में सफल नहीं हो सकता। परिणामतः उसके भीतर एक प्रकार का विचित्र अपराध बोध बना रहता है। तब वह साथ ही रंगमंची कलाकारों के वर्ग की खोज में ही रहता है। इतना ही नहीं वह अभिनीत होते हुए अपने नाटक के दर्शकों की खोज में ही रहता है। वास्तव में किसी नाटक के मंचित होने के बिना उसकी सफलता का मूल्यांकन करना भी कठिन हो जाता है। एक नाटककार को अपने नाटक रचना की लम्बी यात्रा तय करके ही रंगकर्मी कलाकारों को उसके मंचन के लिए आकर्षित करना पड़ता है ताकि दर्शक उसे देखकर उसकी कला के सौन्दर्य से आनन्द विभोर हो सकें।

कश्मीरी भाषा 8/9 शताब्दी से वहां की जनता की बोलचाल की भाषा है। इसकी अनेक पाण्डुलिपियां कई स्थानों पर पूर्णतया सुरक्षित हैं। यद्यपि यह भाषा भारतीय संविधान के आठवें अनुच्छेद की सूची में छटे स्थान पर है तो भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के 59 वर्षों के बाद भी इसे न तो शिक्षा का माध्यम बनाया गया और न ही यह विद्यालयीय स्तर पर सभी कक्षाओं में एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। इससे बढ़कर और क्या विडम्बना हो सकती है। कश्मीर घाटी के सभी दैनिक समाचारपत्र अंग्रेजी और उर्दू भाषाओं में तो प्रकाशित हो रहे हैं। जबकि कश्मीरी भाषा में एक भी समाचारपत्र नहीं निकलता है। राज्य की कला, संस्कृति, और भाषा अकैडमी संगीत और ललित कलाओं के विद्यालय जम्मू और श्रीनगर दोनों स्थानों में चलाती तो है परन्तु इनमें से एक में भी नाट्य-कला का बाकायदा प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध नहीं है।

कुछ वर्षों से कश्मीर में छदम युद्ध का दौर चल रहा है, जिसके द्वारा कश्मीर की संस्कृति और आचार-विचार को नष्ट करने का दुश्चक्र चलाया जा रहा है। आजकल कश्मीर में न तो कोई कलाकार रह गया है और न ही कोई रंग कर्मियों का समूह तथा न ही नाटकों के पाठक ही रह गए हैं। ऐसी स्थिति में नाटककार किसके लिए अपने नाटकों की रचना करेंगे। उधर सरकार भी इच्छुक कलाकारों एवं रंगकर्मियों के प्रशिक्षण के लिए न तो कोई अभीष्ट प्रबन्ध कर रही है और न ही यथेष्ट रुचि ले रही है। इसलिए न जाने यह कला समाप्त होने के लिए कितना समय लेगी? यह तो ईश्वर ही जानता है। फिर जब मीडिया के कार्यक्रम भी परम्परा से चली आ रही ग्रामीण संस्कृति की जड़ों पर ही प्रहार करने को उतारू हों तो क्या हमारी संस्कृति पर आधारित लोक-मंच बच पाएगा। जब तक दूरदर्शन और आकाशवाणी मध्यम स्तर के लेखकों के लिए पैसा खर्च करके उन्हें आकर्षित करते रहेंगे तब तक लोक-कला का तथाकथित रूप बना भी रह सकेगा या नहीं? संदेह है। ऐसी स्थिति में रंगमंच के लिए लिखना भूतकाल की बात ही हो जाएगी।

ooo

कश्मीरी रंगमंच और नाटक

❑ अवतार कृष्ण राज़दान*

न संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृष्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पाणि कर्माणि विविधानि च॥

(न ऐसा योग है, न कर्म, न शास्त्र, न शिल्प अथवा अन्य ऐसा कोई कार्य नहीं जिसका नाटक में प्रयोग न हो) *–भरतमुनि*

कश्मीर का नाट्य-इतिहास पुराना है। यहां समय-समय पर कई ऐसे अभिनेता, तारिकाएँ एवं कला-निदेशक हुए हैं जिनकी यश-कीर्ति की किरण दिगदिगंतव्यापिनी हैं। यहां के नृत्य और नाटक का उल्लेख नीलमतपुराण में स्थान-स्थान पर मिलता है। 'राजतरंगिणी' के अनुसार महाराज जलूक के राजत्वकाल में यहां के प्रसिद्ध मंदिर ज्येष्ठेश्वर में एक-सौ से अधिक नाट्य-कलाकार स्थायी तौर पर नृत्य और नाटक का मंचन करते थे। बिल्हन की प्रसिद्ध काव्यकृति 'विक्रमादेवचरित्रम्' में वर्णित है कि कश्मीरी नाट्य-कलाकार अपने अभिनय के कारण संसार प्रसिद्ध थे। जिनमें नृत्यांगनाएँ भी पेश-पेश थीं और इनके नृत्य की तुलना रंभा, चित्रलेखा और उर्वशी से की जाती थी। इसी प्रकार दोमोदरगुप्त ने 'कुटनिमत काव्य' में यहां की थियेटर कंपनियों का उल्लेख किया है। और अंत में दार्शनिक कवि वसुगुप्त ने अपने दार्शनिक सूत्रों में कहा है कि कश्मीरी नाटक और नृत्य प्राचीन है और यही कारण है कि इन्होंने अभिनेता या नृत्यांगना की आत्मा से, रंगमंच को अन्तरात्मा से तथा प्रेक्षकों की इन्द्रियों से तुलभा की है। इन सभी उल्लेखों से यह साफ़ लगता है कि यहां समय-समय पर कई अभिनेता, नृत्यांगनाएँ, निदेशक एवं सफ़ल नाटककार हुए हैं, जो एक स्थान पर सीमित न होकर मंदिरों, राजदरबारों और गांव-गांव में प्रेक्षकों का मनोरंजन करते थे और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ये किसी जात, वर्ग या सम्प्रदाय से संबंध नहीं रखते थे बल्कि ये सर्वसाधारण से संबंध रखते थे। यहां के प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ के राजदरबार में इन्द्रप्रभा नामक एक तारिका हुई

* डी-255, गली-14/15, लोअर शिव नगर, ऐ. जी. ऑफिस के पीछे, जम्मू-180001

है जिसकी भाव-भंगिमा को देखकर प्रेक्षक इतने प्रभावित थे कि वे उसे स्वर्गपुरी से इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सरा कहते थे। यही वह समय है जब नाटक को यहाँ व्यवसाय के तौर पर खेलने का प्रचलन हुआ और यह मंदिरों और राजदरबारों तक ही सीमित न रहा बल्कि इसका प्रदर्शन यहाँ के हर स्थान पर स्वतन्त्र रूप से होने लगा। इसी तरह उत्पल वंशीय राजा चक्रवर्मन या प्रतापदित्य-2 के राजत्वकाल में भी ऐसे ही नाटक और नृत्य के प्रयोग होते रहे जिससे स्पष्ट हो जाता है कि धरती के स्वर्ग कश्मीर में सदियों से नाटक खेलने और नृत्य करने की परंपरा रही है। किन्तु समय के कुचक्र के कारण यहां न सिर्फ नाटकों के आलेख काल-कवलित हो गए बल्कि इसका घातक प्रभाव कश्मीरी नृत्य और नाटक पर भी पड़ा और रंगमंच का दीपक बुझना शुरू हो गया। चौदहवीं शती में यहां के सुल्तान ज़ैन-उल-आब्दीन 'बड़शाह' की शासनावधि में कश्मीरी नाट्य-साहित्य और रंगमंच एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुआ। इसको एक नयी दिशा दे दी गयी। इसके प्रोत्साहन पर कई अभिनेता और तारिकाएँ सामने आयीं। इनमें वह कलाकार भी शामिल थे जो उसके पिता के नृशंस अत्याचार से तंग आकर पलायन कर गए थे। उसके शाही दरबार में कई अभिनेता एवं तारिकाएं मौजूद रहती थीं, जिनमें उल्लेखनीय है तारा, नृपमाल, दीपमाल। इतिहास साक्षी है कि तारा ४६ भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन करना जानती थी। श्रीवर अपनी ज़ैन-राजतरंगिणी में लिखते हैं कि प्रेक्षक अभिनय में खासी रुचि लेते थे और कभी-कभी अपनी इस सुरुचि को जगाने के लिए ये रंगमंच पर भी अभिनय करते थे। रंगमंच एक पुष्पादित बाग की तरह होता था। इस पर पंक्ति में दीपक जलाए जाते थे। इसके आस-पास प्रेक्षक मद्यपान में ऐसे मस्त रहते जैसे मधुकर रंग-बिरंगे फूलों का रस लूटने में मस्त रहता है। इनके पीछे कई विद्वान और नाटककार बैठे रहते। नाटककारों में बोधिभट्ट और अथसोम का नाम उल्लेखनीय था। बोधिभट्ट ने राजा के यशोगान में 'जैन-विलास' नामक नाटक की रचना की थी जिसका राजा के मरणोपरान्त कई बार मंचन भी किया गया। इस राजा के बाद कश्मीर में कई उदारवादी एवं कट्टरपंथी राजे हुए किन्तु आमतौर पर यहां रंगमंचीय गतिविधियां ठप्प होकर रह गयीं। न बोधिभट्ट जैसे नाटककार रहे और न ही इन्द्रप्रभा तथा तारा जैसी प्रवीण तारिकाएँ। इसके बावजूद यहां के स्थानीय कलाकार भागते हुए समय के दामन को थामने के भरसक प्रयत्न में लग गए। यही कारण है कि आजकल कश्मीरी नाटक की प्राचीन शैलियों के कुछ अंश किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित मिलते हैं। जिनसे कश्मीरी संगीत की आत्मा अभी जीवित है। फिर भी बीसवीं शती के प्रारंभिक काल तक कश्मीरी नाटक खेलने या मंचन करने की किसी ने भी कोशिश नहीं की। वजह यह थी कि न कश्मीरी में कोई मंजा हुआ कलाकार था और न ही

इस भाषा में लिखने वाला कोई नाटककार ही। लोगों के मनोरंजन के साधन के रूप में कुछ भी नहीं था। इसलिए नाटक-साहित्य की कौन-सी विधा है-यह तो यहां की आम जनता जानती ही नहीं थीं। बीसवीं शती के प्रारंभ में, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई थियेट्रिकल कंपनियां एक उन्मत्त प्रभंजन बनकर छा गयी थीं। इनमें से प्राचीन थियेट्रिकल कंपनी का नाम 'इन्द्रसभा' था। यह कंपनी कई जादुई तमाशों से लोगों का मनोरंजन करती थी। इस कंपनी के दिखाए 'बज्मे-सुलेमान' और 'जश्ने-परिस्तान' नामक नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। इसके पश्चात मुम्बई और पंजाब में भी ऐसी ही थियेट्रिकल कंपनियों की स्थापना की गयी जिनका नाम इनके दिखाए नाटकों के कारण कई साल तक जीवित रहा। किन्तु जब बाद में पारसी थियेट्रिकल कंपनी की स्थापना हुई तो इनका महत्त्व कम हो गया। उस समय पारसी थियेट्रिकल कंपनी अपने वैभव और रहस्यमय प्रभाव के कारण सारे भारत में लोकप्रिय हो गयी थी। इस कंपनी के संचालक थे सेठ आर्देश्वर दादाभाई घोंटी। इसके जादुई तमाशे इतने लोकप्रिय होते कि उस समय कई लोगों ने इनका आनन्द लेने के लिए घर के जेवर तब भी बेच डाले थे। इस कंपनी के लिए नाटक लिखते थे आगा हश्र कश्मीरी, बेताब तथा रहमत सॉन। ये लेखक इस नाट्य-कंपनी के प्राण थे और इसकी जगमगाती दुनिया, ज़र्क-बर्क पर्दे तथा मंजे हुए कलाकारों की गूंजती आवाज़ें-ये सब समय के थपेड़ों में खो गयीं। शेष रह गया एक आभास, एक समृति उस प्रेरणा की जिसके द्वारा कश्मीरी कलाकारों ने सदियों के बाद रंगमंच पर उतरना शुरू किया। इस कंपनी द्वारा दिखाए नाटकों से ये इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने कश्मीर में भी इसी के समकक्ष नाटक कंपनी खोलने का संकल्प लिया किन्तु इसके लिए समाज तैयार न था। इन्होंने इस पर बार-बार विचार किया। उस समय यदि यहां कोई नाटक खेलता तो समाज उसको छोटा मानता। फिर भी उस समय यहां के कलाकार रंगमंच पर उतर आए। श्रीनगर में गावकदल के निकट वितस्ता के तट पर एक व्यावसायिक नाट्य-कंपनी खोल दी गई जिसके संचालक थे यहां के तत्कालीन सुप्रसिद्ध नाट्य कलाकार वेदलाल धर। इस नाटक कंपनी के स्त्री पात्रों के लिए बाहर से कुछ अभिनेत्रियां मंगायी गयी। यह रोल कभी-कभी मर्द पात्रों ने भी निभाया। उस समय स्त्रैण हाव-भाव दिखाने में भी ये सफल रहे। किन्तु इस कंपनी के संबंधित कलाकारों ने उर्दू नाटकों का ही मंचन किया जो यहां के आम प्रेक्षकों की समझ से दूर रहे। कश्मीरी नाटक कहां से लाते क्योंकि लिखने वाला कोई नहीं था न ही कोई लिखने को तैयार था। फिर भी इस नाट्य कंपनी की बदौलत कई कलाकार प्रेक्षकों के सामने आए जिनके नाम हैं रामकृष्ण, अमरनाथ हाण्डा, बापू, प्रेमनाथ जत्तू, कृष्णदास, वेदलाल धर, जगन्नाथ 'साकी' एवं स्वामी जी।

प्रेक्षकों ने नाटक तो उर्दू में देखे और कलाकारों ने वाह-वाही भी लूटी किन्तु निरक्षरता के कारण वे इनको अच्छी तरह समझ नहीं पाए। इस तरह इस कंपनी के टूटने का यह भी एक कारण बन गया। प्रेक्षक तो नाटक देखकर अपना मनोरंजन करना चाहते थे और वह भी अपनी मातृभाषा कश्मीरी में किन्तु कश्मीरी में नाटक कौन लिखेगा-यही तो सवाल था। इसकी पहल करने से हर कोई कतराता था। सौभाग्य से इस कल्पना को अंत में मूर्त्त रूप मिल ही गया। सन् 1929 ई. में कश्मीरी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में एक तरह का इन्कलाब आया। यह वही समय है जब कश्मीरी में पहली बार 'सतुॅच कहवुॅट (सत्य की कसौटी) शीर्षक से पहला नाटक लिखा गया और इसके लेखक थे नन्दलाल कौल। इसकी रचना करने के बाद लेखक ने यह सिद्ध कर दिया कि कश्मीरी में भी नाटक लिखे जा सकते हैं। जब इस नाटक का मंचन किया गया तो प्रेक्षकों की आंखें खुल गयीं। लेखक ने अपने इस नाटक में सत्यवादी हरिश्चन्द्र तथा उसकी पत्नी तारामती के जीवन-संघर्ष के कथानक को प्रतिपाद्य बनाया है। नाटक के मुख्य पात्र इस प्रकार हैं-हरिश्चन्द्र, तारामती, रोहित, विश्वामित्र, विदूषक तथा नक्षत्र। इसमें संस्कृत नाटकों की छाप है। यहां भी सूत्रधार आता है तथा नाटक की भूमिका पर प्रकाश डालता है और जब त्रासदी चर्मोत्कर्ष पर पहुंच जाती है तो त्रासिक बिन्दुओं पर विदूषक सहसा प्रेक्षकों को रीझाने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। नाटककार ने इसमें आगाहश्र कश्मीरी की नाट्यशैली की तरह संवाद भर दिए हैं। इसके संवाद इतने ज़ोरदार थे कि ये उस समय प्रेक्षकों के कण्ठहार बन गए। जहां तक इसकी भाषा का संबंध है, नाटककार ने इसमें संस्कृत शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस नाटक का मंचन सन् 1932 ई. तक होता रहा। नए कलाकारों के लिए यह इसलिए वरदान प्रतीत हुआ क्योंकि इनको इसी से रंगमंच पर उतरने का अवसर मिला। अपनी इस रचना से प्रोत्साहित होकर कौल साहब ने अन्य कई ऐसे ही नाटकों की रचना की जिनमें उल्लेखनीय हैं 'सत्यवान-सावित्री, कृष्ण-सुदामा तथा रामराज़। इसके इस अनुभव को ध्यान में रखकर कश्मीरी नाटक की श्रीवृद्धि करने में तीन और नाटककार सामने आए जिनके नाम हैं गुलाम नबी दिलसोज़, ताराचन्द बिसमिल और नीलकंठ शर्मा। इन्होंने क्रमशः कई लघु नाटकों की रचना की, किन्तु इन्होंने इनमें वही प्रयोग किए जो कौल साहब के किए थे। इनमें से कुछ एक नाटकों को उस समय राजपाल ग्रामोफोन कंपनी ने रिकार्ड किया। अब यहां के प्रेक्षकों को काव्यात्मक संवाद सुनने की रुचि नहीं रही थी या किसी धार्मिक कहानी को लेकर कोई नाटक लिखना या पसंद करना वे नहीं चाहते थे। इसके विपरीत वे यहां के आम जन की बेबसी और उनकी कठिनाइयों को लेकर नाटक लिखना और मंचन करना पसंद करने लगे। मगर इसका बीड़ा किसी भी लेखक

ने नहीं उठाया किन्तु अंत में प्रो० मोहीउद्दीन हाजनी ने इस ओर सफल प्रयास किया। इन्होंने 'ग्रीस्य सुंद घर' (किसान का घर) शीर्षक से एक नाटक की रचना की। यह सन् 1936 की बात है। इसमें काव्यात्मक संवाद नहीं हैं। इसका वर्ण्य-विषय बिल्कुल यथार्थवादी है। किस तरह एक किसान जागीरदारी व्यवस्था में दब-पिस रहा है तथा हाकिम लोग उसका शोषण करते हैं-यही नाटक का मूल कथानक है। मगर इस नाटक का मंचन रंगमंच की बारीकियों को देखते हुए नहीं हो सका है। फिर भी यह कश्मीरी नाटकों में एक नया प्रयोग माना जाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व देश के लिए स्वतन्त्रा प्राप्त करने वालों से प्रेरित होकर यहां के आम जन भी इस विषय में सोचने लगे। यह वह समय है जब 'इण्डियन पीपुल्ज़ थियेटर एसोसियेशन लोक-नाटकों एवं अन्य तमाशों के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय भावना उत्पन करने का सफल प्रयास कर रही थी, इसलिए यहां के सभी कलाकारों की यही राय रही कि कश्मीर में भी यह थियेटर कंपनी अपनी एक शाखा खुलवा ले ताकि यहां के कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन कर सकें। इस नाट्य-संस्थान के प्रमुख कार्यकर्ता थे प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी। इस सिलसिले में उन दिनों साहनी जी स्वयं कश्मीर आए तथा यहां के कलाकारों से विचार-विमर्श करते रहे। यह साहनी साहब का ही प्रोत्साहन था कि यहां के कलाकार ऐसा नाट्य-संस्थान खोलने में सफल हुए। मगर भाग्य की विडम्बना यहां की तत्कालीन सरकार ने न सिर्फ इस पर प्रतिबंध लगा दिया बल्कि कलाकारों को कला-प्रदर्शन करने से रोका। फिर भी यहां के कलाकार इससे हतोत्साहित नहीं हुए। इन्होंने यहां के प्रसिद्ध उर्दू व कश्मीरी लेखक प्रेमनाथ परदेसी से कश्मीरी में एक नाट्य-आलेख तैयार करवाया जिसका शीर्षक कां 'बतहार' जिसमें लेखक ने यहां की तत्कालीन खाद्य-समस्या पर प्रकाश डाला था। किन्तु इसका मंचन भी किसी कारण वश न हो सका। यह देखकर कलाकारों का सरकार के प्रति का रोष बढ़ गया। पर उन्होंने रंगमंच नहीं छोड़ा। यह उन्हीं के सत्प्रयत्नों का परिणाम है कि उस समय तीन नाट्य-क्लबों की स्थापना हुई जिनके नाम हैं श्री प्रताप ड्रामा क्लब, नेशनल ड्रामा-क्लब तथा सुधार समिति ड्रामा क्लब। यहां मंचन के लिए नाटकों का आलेख स्वयं कलाकार तैयार करते थे। इनमें से पहले नाट्य-क्लब की गतिविधियां श्री प्रताप कालिज तक ही सीमित थीं और शेष अन्य दो नाट्य-क्लब यहां के युवा कलाकार चलाते रहे। इनके भी अपने नाटककार नहीं थे। मंच पर जो उतरते थे वही नाटकों को भी लिखते थे। फिर भी इन्होंने अच्छे नाटकों की रचना की जिनमें 'विधवा' उल्लेखनीय है। यदि हम यह कहें कि कश्मीरी प्रेक्षकों का कश्मीरी में नाटक देखने का मूल कारण सतुंच-कहवुँट' (सत्य की कसौटी) और 'विधवा' है तो अतिशयोक्ति न होगी।

आज़ादी प्राप्त करते ही कश्मीरियों की आज़ादी एक बार फिर खतरे में पड़ गयी। इस सुरमयीघाटी को पाकिस्तानी सेना द्वारा समर्थित कबाइलियों ने हथियाने की असफल कोशिश की। कश्मीरी नाट्य कलाकारों ने राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत 'कश्मीर यह है,' शीर्षक से उर्दू नाटक का मंचन किया। जिसमें एकसाथ कई कलाकार मंच पर उतर आए। यह पहली बार है कि इसमें महिला कलाकार भी मंच पर आए। दूसरी बात यह थी कि नाटक उर्दू में था किन्तु नाटककार ने इसमें कश्मीरी के देश-प्रेम के गीतों से सजाया-संवारा था। यह एक नया प्रयोग था। मगर उस समय भी यह नाटक पढ़े-लिखे लोगों की समझ तक ही सीमित रहा। अब कश्मीरी में देश-प्रेम से ओत-प्रोत नाटक लिखने की आवश्यकता कलाकारों ने महसूस की और यही कारण है कि सन् 1947 ई० में प्रेमनाथ परदेसी ने 'शहीद शेरवानी' शीर्षक से एक नाटक की रचना की। शहीद शेरवानी कश्मीर के एक वीर सपूत हुए हैं। जिन्होंने कबाइलियों को साहस एवं सूझ-बूझ से कश्मीर से बाहर खदेड़ दिया था और इसी कथा-वस्तु को लेकर प्रस्तुत नाटक की रचना की गयी थी। इसके गीत स्वर्गीय महजूर ने लिखे थे। जब इसका मंचन किया गया तो देखने वालों का तांता बंध गया। इस नाटक को देखते हुए एक बात खलती थी कि यह बिना किसी टेकनीक के लिखा गया था। रंगमंचीय सीमाओं के कारण इसका संदेश देखने वालों तक नहीं जाता था। फिर भी यह नाटक कश्मीरी नाट्य-साहित्य की एक अमूल्य कृत्ति मानी जाती है। तब से कश्मीरी कलाकार पूरे चाव के साथ रंगमंच पर उतरते आए हैं। रंगमंच से आगे खुले में नाटक खेलने के सफल प्रयोग किए गये हैं। वैसे यह प्रयोग यहां के प्रसिद्ध नाटककार भाणुभट्ट के समय से हो रहे हैं और उन्होंने जिन नाटकों की रचना की है उनको भाणु पात्र कहते हैं जिनें अब 'भाण्डकॅथर' कहते हैं। इन नाटकों का अपना एक अलग इतिहास है। यह एक अलग विषय है जिनको आम नाटकों से जोड़ना सही नहीं है। फिर भी जिन नाटकों का आज़ादी के बाद खुले में मंचन किया गया वह हैं कश्मीरी साहित्यिक फ्रंट की ओर से 'तीन बटा चार' और 'डालर सॉब' इनमें से पहले नाटक का संदेश था कि एक किसान को अपनी उपज का तीन बटा चार भाग मिलना चाहिए। आजकल यह हमारे प्रदेश में एक वास्तविकता बन गयी है। दूसरे नाटक में नाटककार ने उस हाकिम वर्ग द्वारा कमाए गए अधिक लाभ की ओर कटु व्यंग्य किया है जो वह श्रमिक वर्ग के खून-पसीने से कमाता है। उक्त दो लघु-नाटक यहां के कलाकारों के सामूहिक प्रयास से खुले में दिखाए गए जो उस समय हज़ारों लोगों ने इन्हें देखा। यहां उल्लेखनीय है कि इनका हमारे 'भाण्डपॉथर' की टेकनीक से कोई संबंध नहीं था। इसके अतिरिक्त उस समय खुले में जिन नाटकों का मंचन किया गया, उनमें नूर मोहम्मद रोशन का 'सोन-समसार'

अमीन कामिल का 'पगाह छु गाशदार' अली मोहम्मद लोन का 'विज़ छॅ सॉन्य' तथा पुष्कर भान का 'तन तॅ तड़ाख' तकनीक की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। कश्मीरी नाट्य-साहित्य में इनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

कश्मीरी नाटकों में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया गया और वह है छवि नाटक दिखाने का सफल प्रयास। सन् 1953 में इस ओर कलाकारों का ध्यान गया। यह वह समय है जब यहां गीत-नाट्य लिखने तथा मंचन करने का शुभारंभ किया गया ठीक उसी तरह जिस तरह चीन और रूस के रंगमंच पर ऐसे नाटकों का मंचन किया जाता है। इसका सफल प्रयोग सबसे पहले स्वर्गीय दीनानाथ नादिम ने किया। इन्होंने एक ओपेरा 'बोम्बुर तॅ यंबरज़ल' (मधुकर और नरगिस) शीर्षक से लिखा। इसमें इन्होंने सुन्दर और मनोरम गीतों द्वारा यह दिखाया है कि आखिर सत्य पर असत्य की, अन्याय पर न्याय की तथा सामंतशाही पर लोकतन्त्र की विजय होती है। ऐसा दिखाने के लिए उसने इसमें कई प्रतीकों का सहारा लिया है। उदाहरण स्वरूप सामंतशाही के लिए पतझर का प्रयोग किया गया है जो हरी-भरी फुलवारी के भोले-भाले प्राणियों-भौंरे, नरगिस, गुले लाला तथा टेकबरनी (कश्मीरी फूल) का जीना दूभर करता है परन्तु अंत में पतझर को हार माननी पड़ती है। क्योंकि अब वसंत ऋतु आने वाली है। और ये फूल फिर से खिलेंगे पूरी महक के साथ और तब फुलवारी को चार चांद लग जाएगें। जब इस ओपेरा का मंचन पहली बार किया गया तो इसको देखने के लिए प्रेक्षकों की कतार लग गयी। इसका मंचन रूसी नेता ख्रिसचोव और बलगामियन के सामने किया गया। इसको देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इसका अनुवाद रूसी भाषा में करने का तत्काल आदेश दिया। इसके बाद ओपेरा रचने के कई प्रयोग जिन्होंने किए उनमें उल्लेखनीय हैं- रहमान 'राही', अमीन कामिल, गुलाम रसूल संतोष, मोतीलाल 'साकी', पृथ्वीनाथ कौल, सायिल आदि। इनमें से कुछ एक का मंचन हुआ है परन्तु टेकनीक की दृष्टि से ये रंगमंच की सीमाओं पर खरे नहीं उतरते हैं।

सन् 1953 ई० के बाद कश्मीरी रंगमंच पर नाटक, लोक-नृत्य या दमाली दिखाकर लोगों का मनोरंजन भी किया गया। और लोक कहानियों पर आधारित कुछ छोटे नाटकों का मंचन भी किया गया। इस बीच यहां 'जशने-कश्मीर' तीन बार मनाया गया जो नाटक दिखाकर ही सम्पन्न किया जाता था और इस जशन में जो उल्लेखनीय नाटक यहां के कलाकारों ने मंच पर दिखाए उनके नाम इस तरह हैं दीनानाथ 'नादिम' तथा नूर मोहम्मद रोशन का सामूहिक रूप से लिखा 'नेकी तॅ बदी' अमीन कामिल का 'हब्बाखातून' अख्तर मुहीउद्दीन का 'नसति हुंद सवाल', जगन्नाथ वली का 'जून' जिया लाल जलाली का, 'हीमाल' तथा श्याम लाल साधु का

'बीरबलन्य नॉव्य'। 'जून' हब्बाखातून के जीवन वृत पर आधारित नाटक है। किन्तु यह नाटकीय तत्वों पर सही नहीं उतरता है। 'हीमाल' कश्मीर की प्रसिद्ध लोक-कहानी 'हीमाल-नॉगराय' पर आधारित है। यह भी तकनीक की दृष्टि से अपूर्ण व अधूरा है। 'बीरबलॅन्य नॉव्य' एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें यहां पठान काल में हुई एक दुखद घटना का विवरण दिया गया है। इसके संवाद ज़ोरदार हैं। इसका दृश्य-चित्रण कलात्मक ढंग से किया गया है। इसकी रचना करते समय नाटककार ने जो तकनीक अपनायी है वह कश्मीरी नाट्य-साहित्य में एक बढ़िया प्रयास माना जाता है।

सन् 1958 ई० में जम्मू-कश्मीर ललित कला व साहित्य अकादमी की स्थापना होने से कश्मीरी रंगमंच उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होने लगा। इसके माध्यम से कई रंगमंचीय कलाकार व लेखक सामने आए हैं। सन् 1959 ई० में इस संस्थान की देख-रेख में पहले कश्मीरी नाटक का मंचन किया गया जो अख़्तर मुहीउद्दीन ने 'शीश् त् संगिस्तान' शीर्षक से लिखा था। इस संस्थान द्वारा रंगमंचीय कलाकारों को प्रोत्साहित करने का यह पहला प्रयास था। प्रति वर्ष नाटक-सप्ताह मनाने का श्रेय भी इसी संस्थान को है। यह प्रयास सन् 1964 से शुरू हो गया। इतना ही नहीं इस संस्थान से अब 'सोन अदब' भी हर वर्ष छपता है। शीराज़ा का नाटक अंक भी निकाला गया है। यही वह संस्थान है जिसके सत्प्रयासों से 'भाण्ड-पॉथर' की विच्छुङ्गलित कड़ियां फिर से जुड़ गयीं जो यहां का हर कोई कलाकार याद कर सकता है। इसी संस्थान की वित्तीय सहायता से कई नाट्य-क्लबों की पतली हालत भी सुधर गयी है।

कश्मीर नाट्य-साहित्य का विकास करने में हमें समय-समय पर उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इसमें कश्मीरी नाटकों की मौलिक सर्जना के साथ-साथ अंग्रेज़ी, बंगला, हिन्दी एवं उर्दू नाटकों का कश्मीरीकरण शामिल है ऐसे नाटकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का "रीड़हेड्स" का नाम सर्वोपरि है। इसका कश्मीरीकरण 'गुलेलाला' से हुआ है। इसका मंचन भी किया गया है। बाद के जिन नाटकों का कश्मीरीकरण हुआ है, उनमें विशेष हैं- इब्सन वृत 'वाइल्ड डक' और 'गोस्टस' शेक्सपियर कृत 'ओथेलो', 'जूलियज्ट सीज़र', रवीन्द्र नाथ ठाकुर रचित 'मुक्त धारा', 'राजा-रानी', 'डाकघर', 'चंडिका' और 'रीता संहारिका' इनका कश्मीरीकरण क्रमशः दीनानाथ नादिम, सोमनाथ ज़ुत्शी, नाजी मुनव्वर, अख़्तर मुहीउद्दीन, अली मोहम्मद लोन, अमीन कामिल, नूर मोहम्मद रोशन तथा मिर्ज़ा आरिफ ने किया है। ये सब गीत-नाट्य है।' इसके अतिरिक्त मौलिक सर्जना के अन्तर्गत जो महत्त्वपूर्ण कश्मीरी

नाटक आते हैं उनमें से उल्लेखनीय हैं 'विज़ छॅ सॉन्य (1955)', तेजबटॅन्य कान (1962), 'यि बूज़िव ति बोज़व (1964)', नसति हुंद सवाल (1957) 'सूया' (1964) 'तक़दीर साज़ (1968)' 'ग्रैण्ड-रिहर्सल (1967) तलाश (1969)' 'बॅ छुस नॅ चूर (1970),' मायि मंज़ छाय (1970), मंज़ल्य निक् (1970), बेरि प्यठ बामन (1971), फंदबाज़ (1971) सोरूय सपदयो इन्साफ (1972), राथ (1972), लोल फन त् फनकार (1972), याहू (1962), लोसबुन दोह (1973), नाटक त्रुच (1980), नाटुक करिव बंद (1685) आदि। ये सभी नाटक क्रमशः सोमनाथ, हरिकृष्ण कोल जुत्शी, अली मोहम्मद लोन, अख्तर मुहीउद्दीन, अमीन कामिल, अवतार कृष्ण 'रहबर', पुष्कर भान, सोमनाथ साधु, भूषण लाल बेताब, सजूद सैलानी, मोतीलाल क्यूम, मक्खन लाल सराफ, माधवलाल तिक्कू आदि ने लिखे।

गत 75 वर्षों से कश्मीरी कलाकारों के अथक परिश्रम से यहां समय-समय पर विभिन्न नाट्य-संस्थानों की स्थापना हुई। इनमें से कुछ एक का नाम इस प्रकार है-अमेच्योर ड्रामाटिक क्लब, सरस्वती ड्रामाटिक क्लब, नेशनल ड्रामाटिक क्लब, कश्मीर ड्रामाटिक क्लब, भगत थियेटर (अकिन गाम), नेशनल थियेटर (बड़गाम), गुलशन थियेटर, नवरंग थियेटर, कामेश्वर थियेटर, वसंत थियेटर, रंगमंच थियेटर, नटराज थियेटर, कलाकेन्द्र थियेटर, हिमालय थियेटर आदि। इनमें से पहले दो नाट्य थियेटरों की स्थापना आज़ादी मिलने से बहुत पहले महाराजा प्रतापसिंह ने की थी। बिलवा मंगल, वीर-बालक चन्द्रावती, महाभारत, कृष्ण-सुदामा; सफ़ेद खून, खूबसूरत बाला तथा ख़्वाबे हस्ती जैसे उर्दू तथा हिन्दी नाटकों का मंचन यहां इन्हीं नाट्य-क्लबों द्वारा किया गया और इनके रचियता आगा हश्र कश्मीरी और बेताब थे।

समय के कुचक्र के कारण गत बीस वर्षों से कश्मीर में रंगमंचीय गतिविधियां लगभग ठप्प होकर रह गयी थीं। इस सूरत में कोई भी कलाकार इस ओर ध्यान ही नहीं देता था। इन वर्षों में किसी भी लेखक ने नाटक लिखने के लिए पहल नहीं की। इस तरह से रंगमंच बुझना शुरू हो गया। दूसरा सबसे बड़ा कारण यह है कि टेलिविजन तथा रेडियो के माध्यम से अब लोगों को घर में ही मनोरंजन का साधन मयस्सर है। लोग हर तरह के सीरियल नाटक देख और सुन सकते हैं। उनके लिए अब रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं। माया नगरी मुम्बई में भी सिनेमा से ज़्यादा थियेटर चलता है। प्रेक्षक भी बड़े चाव से नाटक तथा कलाकारों का अभिनय देखने उनके संवादों की प्रेष्णीयता सुनने आते हैं। सिने-कलाकार भी पहले अभिनय का प्रदर्शन रंगमंच पर ही करना चाहते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह कि इससे उनमें आत्मविश्वास की भावना बढ़ती है। ज़ो उस कलाकार में नहीं दिखती जो किसी

सिनेमा या सीरियल में काम करता है। कश्मीर के जो कलाकार इस समय सिनेमा के लिए अपनी भूमिका निभाते हैं, वह पहले रंगमंच पर अभिनय करते थे। धीरे-धीरे अब फिर से लोगों में नाटक के प्रति रुचि उत्पन्न होने लगी है जिससे नाटककारों को और रंगमंच दोनों को प्रोत्साहन मिला है और वह नाटक लिख और मंचित भी कर रहे हैं।

ooo

हमारा साहित्य 2004

का

संस्मरण-विशेषांक

अवश्य पढ़ें। इस अंक की प्राप्ति के लिए निम्न पते पर 56 रुपये का डिमाण्ड ड्राफ्ट धनादेश/पोस्टल आर्डर भेज कर समय भी बचाएं और असुविधा भो।

पता :

एडीशनल सेक्रेटरी,
जे. एंड के. अकैडमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू-180 001

जम्मू-कश्मीर के रेडियो पंजाबी नाटक - एक सर्वेक्षण

❑ दीदार सिंह*

लिखित साहित्य में नाटक, कविता और महाकाव्य साहित्य की प्राचीनतम विधा मानी जाती है। वैदिक काल और उसके पश्चात् भी लिखे गये संस्कृत नाटकों ने भारतीय भाषाओं और नाटककारों को दिशा प्रदान की है। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रवेश से नाट्य-कला का और विकास हुआ। जब रेडियो, सिनेमा अथवा टैलीविज़न जैसी कोई वस्तु न थी तो नाटक लेखक की परिकल्पना नाटक की प्रस्तुति में रंगमंच तक ही सीमित थी। अब तो आधुनिक उपकरणों की देन प्रकाश और ध्वनि ने रंगमंच की प्रस्तुति में बहुत-सी सुविधाएं तथा नये प्रयोगों को अवसर दिया है।

जब रेडियो, टी० वी० नहीं थे, मनोरंजन का और कोई साधन भी नहीं था तो लोग रंगशाला में नाटक देखने जाते थे। किन्तु रेडियो, टी० वी० ने यह सुविधा उत्पन्न कर दी कि आप अपने घर बैठे ही सपरिवार नाटक देख अथवा सुन सकते हैं।

भारत में रेडियो नाटकों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना प्रसारण का इतिहास अर्थात् बहुत पुराना नहीं। रेडियो के प्रचलन के पश्चात् भी बहुत देर तक नाटककार रेडियो नाटक की विधा से भली-भांति परिचित नहीं हुए थे। पहले सभी नाटककार मूल रूप में रंगमंचीय नाटक लिखते थे। तत्पश्चात् उस नाटक, उपन्यास अथवा कहानी का रेडियो नाट्य-रूपांतर करके प्रसारित किया जाता था।

रेडियो-नाटक की कुछ अपनी ही विलक्षणताएं, मजबूरियां और सीमाएं हैं। रेडियो नाटक में न तो वेश-भूषा होती है, न श्रृंगार और न ही बहुमूल्य दृश्य लगाने पड़ते हैं। बस सारा चमत्कार आवाज़ का है अथवा सहायक संगीत का। नाटककार अथवा पात्र को जो कुछ कहना-समझना है, वह केवल आवाज़ के उतार-चढ़ाव और अभिव्यक्ति द्वारा श्रोताओं तक पहुंचाना है। इस में यह भी सुविधा है कि कोई भी माहौल-जैसे, शोर, वर्षा, आंधी, बाढ़, विद्युत का गर्जन, रेल, वायुयान, बस की दौड़

* *613/3, नानक नगर, जम्मू 180004*

और कोई भी स्थल-संगीत के प्रयोग से सृजा जा सकता है। यदि किसी को चपत लगाने का प्रभाव देना है तो अपने ही बाजू पर हाथ मारकर दिया जा सकता है।

रेडियो नाटक में सभी संवाद अलग से रिकार्ड किए जाते हैं और ध्वनि-प्रभाव अलग। फिर डब्बिगं द्वारा अन्तिम स्वरूप तैयार किया जाता है।

प्रारंभ के दौर में, जब रिकार्डिंग की सुविधाएं नहीं थीं तो नाटक सीधे प्रसारित होते थे, जो बहुत कठिन कार्य था और कलाकारों, प्रस्तुत करने वालों को बहुत परिश्रम करना पड़ता था। कलाकार लाइव स्टूडियों में माइक के सामने अपने संवाद बोलते और प्रस्तुतकर्ता संगीत प्रभाव साथ-साथ देता था। किसी संवाद के भूलने, अटकने, संगीत-प्रभाव की गड़बड़ी अथवा भ्रांति से सारा परिश्रम चौपट हो सकता था।

अब तो रिकार्डिंग की सुविधाएं होने से कलाकार भी उतना परिश्रम नहीं करते, न काम को गंभीरता से लेते हैं। उन्हें ज्ञात है कि जहां भूले अथवा थिरके तो रिकार्डिंग रोककर पुनः शुरू की जा सकती है।

श्रोताओं को रेडियो तकनीक से परिचित कराने तथा पर्दे के पीछे क्या होता है, यह बताने के लिए पहले आकाशवाणी के केन्द्रों की ओर से रेडियो नाटकों का सप्ताह अथवा समारोह मनाया जाता था। जिसमें दर्शकों को बुलाकर, उनके सामने मंच पर नाटक रिकार्ड किए जाते थे अर्थात् स्टूडियो की भांति कलाकार माइक के चारों ओर खड़े होकर अपने लिखित संवाद आलेख से बोलते थे और साथ ही ध्वनि-प्रभाव दिए जाते थे। फिर वही रिकार्डिंग बाद में प्रसारित की जाती थी।

आकाशवाणी जम्मू के केन्द्र में 1980 से पूर्व कई बार ऐसे रेडियो-नाटक मेलों का आयोजन किया गया। एक समय वह भी था जब हर वर्ष ऐसे आयोजन किए जाते थे। इन मेलों में हिन्दी, पंजाबी, उर्दू तथा डोगरी में नाटक प्रस्तुत किए जाते थे। बलवंत गार्गी का 'लोहा कुट' और करतार सिंह दुग्गल का 'मिट्ठा पाणी' पंजाबी नाटक इन मेलों की शोभा बने थे।

रेडियो नाटक की एक और विशेषता है कि इस में श्रोता की कल्पना के विकास की बहुत संभावना है। रेडियो नाटक एक तो रात्रि के समय बिस्तर में लेट कर, शास्त्रीय संगीत की भांति, एकान्त में सुना जा सकता है। दूसरा, प्रत्येक श्रोता पात्र की वेश-भूषा के विषय में अपनी ही परिकल्पना रखता है। सभी श्रोताओं की परिकल्पना एक समान नहीं होती इसलिए वे प्रत्येक स्थिति को अपनी ही सोचानुसार

चित्रित करते हैं। जबकि मंच अथवा टी० वी० में पात्र तथा अवसर प्रत्यक्ष देखकर श्रोता की परिकल्पना सीमित हो जाती है। वहां सभी दर्शकों के सामने एक ही पात्र और एक ही स्थिति है और कल्पना की विविधता की कोई संभावना नहीं।

रेडियो नाटक में मूक अभिनय के लिए भी कोई स्थान नहीं वहां मोनोलोग अथवा सोलीलोकी का सहारा लेना पड़ता है। मंच पर तो एक पात्र परेशानी की अवस्था में मौन इधर-उधर चक्कर लगाता दिखाया जा सकता है लेकिन रेडियो पर दस सैकिंड के मौन की भी अनुमति नहीं। मनः स्थिति अथवा अन्तर्द्वन्द्व को भी ध्वनि द्वारा व्यक्त करना होता है। यहां संगीत अथवा अन्य संगीत प्रभाव सहाई होते हैं। यों तो ऐसे भी नाटक प्रसारित किए जा चुके हैं जिनमें संगीतादि का कदाचित प्रयोग नहीं किया गया। केवल पदचाप और द्वार खटखटाने की ध्वनि ही दी गई है।

रेडियो नाटक में मार-पिटाई के दृश्य को संगीत-प्रभाव के साथ-साथ शब्दों द्वारा भी बताना पड़ता है। जैसे चपत की ध्वनि दी तो दूसरा पात्र स्पष्ट करेगा, "तू ने मुझे थप्पड़ मारा। ले फिर मेरे घूंसे का उत्तर। अच्छा, तू लाठी ले आया, ज़रा देना मेरी तलवार।"

रेडियो नाटक में अधिक पात्र नहीं होते। अधिक पात्र होने से श्रोता यह भेद नहीं कर सकता कि कौन-सा पात्र क्या बोला। रंगमंच पर तो पात्र की शक्ल, साज-सज्जा तथा वेश-भूषा से उसकी पहचान हो जाती है किन्तु रेडियो पर यदि दो एक जैसी आवाज़ें हों तो श्रोता को भ्रम हो सकता है। थोड़े पात्र, सशक्त भूमिका तथा मूलतः विभिन्न आवाज़ों वाले पात्रों का चयन अनिवार्य है।

रेडियो नाटक एक मज़दूर से लेकर बुद्धिजीवी ने सुनने होते हैं। अतः सब की रुचि का ध्यान रखना पड़ता है ताकि एक नाटक प्रत्येक वर्ग की तुष्टि करे। भाषा अति सरल और संवाद छोटे तथा चुस्त होने चाहिए। इन नाटको का विषय भी अधिक जटिल, नहीं होना चाहिए। जटिल विषयों को भी सरल ढंग से प्रस्तुत करना होता है। अधिकतर विषय सामाजिक और फिर धार्मिक, कुछ ऐतिहासिक भी होते हैं।

जैसा कि प्रसारण के तीन मुख्य उद्देश्य माने जाते हैं; शिक्षा, ज्ञान और मनोरंजन। मनोरंजन का प्रत्येक नाटक में होना अनिवार्य है चाहे विषय शिक्षा का हो, ज्ञान-जानकारी का हों अथवा केवल मनोरंजन। अर्थात् प्रत्येक विषय मनोरंजन की चाशनी में भिगो कर प्रस्तुत किया जाता है।

युद्ध के समय कुछ देश-प्रेम की भावना उत्पन्न करने वाले नाटक भी प्रसारित किए गए। प्रचार के लिए भी नाटकों का आश्रय लिया जाता है। प्रचार में शत्रु की खिल्ली उड़ानी, उसका भांडा फोड़ना और अपनी सफलता को गौण बताना होता है। साथ ही अपनी जीत को बढ़ा-चढ़ा कर अपनी सेना तथा जनता के साहस को बढ़ाया जाता है। इलैक्ट्रोनिक मीडिया पर सदैव सरकार का नियन्त्रण रहा है। रेडियो की पहुंच जनसाधारण तक होती है, इसलिए समय की हर सरकार ने इस सशक्त माध्यम को अपने प्रचार का शस्त्र बनाया है। आपातकाल के दिनों में सरकार की किसी भी नीति की आलोचना नहीं की जा सकती थी। प्रत्येक नाटक, कहानी अथवा कविता में सरकार के बीस-सूत्री कार्यक्रम में से किसी-न-किसी सूत्र का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रचार करना अनिवार्य था। सरकार इस माध्यम द्वारा अपनी उपलब्धियों का प्रचार करती है। कुछ योजनाओं की जानकारी और सफलता के विशेष तौर पर नाटक लिखवाए जाते हैं। ऐसे ही दहेज, बाल-विवाह अथवा 'सति' जैसी बुरी रस्मों को समाप्त करने के लिए, एडज़, कैंसर, तपेदिक अथवा अन्य घातक बीमारियों से बचाव सम्बन्धी भी विशेष रूप से नाटक लिखवाए जाते हैं। ये सब प्रचार के लिए नाटक सरकारी आदेश पर प्रसारित किए जाते हैं। अब जबकि 'प्रसार भारती' निगम का गठन हो चुका है और दूसरे निजी चैनलों से सीधा मुकाबला है फिर भी सरकारी निर्देश सतत प्राप्त होते हैं और उनका तुरन्त पालन भी किया जाता है।

रेडियो नाटक की अवधि किसी भी दशा में एक घंटे से अधिक नहीं होती। रंगशाला में चाहे दर्शक तीन घंटे बैठकर नाटक देखे पर रेडियो के सामने तीन घंटे बैठना कठिन होता है। इस लिए रेडियो नाटक की अवधि आमतौर पर आधा घंटा होती है। जिस में प्रारंभ तथा अन्त में संगीत, पात्र और प्रस्तुत कर्ता का परिचय भी शामिल होता है। अर्थात् नाटक की वास्तविक अवधि 27-28 मिनट ही होती है।

कुछ विशेष परिस्थितियों में एक घंटे का नाटक प्रसारित किया जाता है। यह एक तो नाटकों के अखिल-भारतीय कार्यक्रम में होता है, जिसे आकाशवाणी के सभी केन्द्र एकसाथ रिले करते हैं। या फिर केन्द्र का अपना जो नाटकों के लिए विशेष समय होता है। मिले-जुले कार्यक्रम जिसे अल्प-संख्यक कार्यक्रम कहते हैं, उसमें नाटक 10 से 25 मिनट तक का हो सकता है। जैसा कि ऐसे कार्यक्रमों में बातचीत, गीत-संगीत भी होता है। अतः नाटक इस कार्यक्रम का एक हिस्सा मात्र होता है। आकाशवाणी जम्मू के पंजाबी कार्यक्रम में भी नाटक 15, 20 अथवा 25 मिनट की

अवधि का होता है। कभी-कभार आधे घंटे के नाटक भी प्रसारित किए गए लेकिन बहुत कम। वैसे तो रेडियो झलकी पांच मिनट की भी हो सकती हैं। झलकी प्राय: 10 अथवा 15 मिनट की होती है और धारावाहिक नाटक आधे घंटे के।

आकाशवाणी की ओर से प्रति वर्ष उत्तम कार्यक्रमों पर पुरस्कार भी दिए जाते हैं। इनमें नाटक भी शामिल होते हैं। नाटक किसी भी भाषा का हो सकता है। वह गत वर्ष सम्बधित केन्द्र से प्रसारित हुआ होना चाहिए।

जम्मू-कश्मीर से पंजाबी नाटकों का प्रसारण 1948 में जम्मू में रेडियो स्टेशन की स्थापना के पश्चात् पंजाबी कार्यक्रम शुरू होने से हुआ। यह रेडियो स्टेशन पहले रणवीर हाई स्कूल में शुरू किया गया और बाद में बेगम की हवेली अर्थात् वर्तमान स्थान पर स्थानान्तरित हुआ।

जम्मू रेडियो से पांचवें दशक से पंजाबी नाटक प्रसारित होने शुरू हो गए थे। पहले अर्थात् प्रारंभिक नाटककारों में दो नाम बहुत महत्त्व रखते हैं और मील-पत्थर माने जा सकते हैं। वे नाटककार थे श्री टी० एस० सोढी और महमूद अहमद। सर्वप्रथम 'जाना' शीर्षक से धारावाहिक झलकी शुरू की गई जिसे उक्त दोनों लेखक लिखते थे। टी० एस० सोढी ने 'मिर्ज़ा साहिब' और 'कुड़माई' नाटक लिखे। महमूद अहमद ने 'हाशम दा पक्खा' धारावाहिक नाटक लिखा। उक्त नाटककार केवल लेखक ही नहीं थे। अपितु स्वयं ही झलकी अथवा नाटक प्रस्तुत करते थे।

'हाशम दा पक्खा' 1955-56 में शुरू हुआ। उस से पूर्व महमूद अहमद ने 'ज़ालिम खां' धारावाहिक कामेडी शुरू की। महमूद अहमद के सभी नाटकों में हास्य-व्यंग्य होता था। उसे हास्य-व्यंग्य का बादशाह माना जा सकता है। व्यंग्य-विनोद उसमें इतना प्रबल था कि हर बात में वह कटाक्ष और हास्य उत्पन्न कर लेता था। उसके नाटक प्रत्येक वर्ग का भरपूर मनोरंजन करते थे। फिर उस समय मनोरंजन का और कोई साधन न होने से लोग हर सप्ताह बड़ी बेसब्री से उसके नाटकों की प्रतीक्षा करते थे।

'ज़ालिम खां' में पाकिस्तानी थानेदार की भूमिका होती थी। यह एक प्रकार से प्रचार के लिए नाटक था, जिसमें पाकिस्तानी सरकार की खिल्ली उड़ाई जाती थी। महमूद अहमद की सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य कड़ी थी 'नूरदीन'। जिसे स्वर्गीय कृष्ण दत्त और बलदेव चन्द की भूमिका चार चान्द लगाती थी। 'नूरदीन' धारावाहिक में किसी-न-किसी सामाजिक पहलू पर व्यंग्य को हास्य में लपेट कर प्रकाश डाला

जाता। हर कड़ी में कोई-न-कोई सन्देश निहित होता। 'नूरदीन चन्न ते गेआ,' 'नूरदीन ने कार चलाई', 'क्रिकेट खेडेआ' 'चोर फड़ेआ', 'थीएटर खोलेआ' आदि दर्जनों नाटक इस धारावाहिक में प्रसारित किए गए।

इसके पश्चात 'हद हो गई', 'भाइया जी', और 'असीं बी हैगे हां' धारावाहिक महमूद अहमद ने लिखे और प्रस्तुत किए। महमूद अहमद के लिखे सभी नाटक एक पलड़े में रखें और शेष रियास्त के सभी पंजाबी लेखकों के नाटक दूसरे पलड़े में रखें तो महमूद का पलड़ा भारी होगा।

महमूद अहमद ने टी. एस. सोढी के साथ मिलकर 'भाइया मेहर चंद' धारावाहिक भी प्रसारित किया।

सुप्रसिद्ध उर्दू लेखक कृष्ण चन्द्र का लिखा पंजाबी नाटक 'नाल दा मकान' और ठाकुर पुण्छी का लिखा 'सुल्फे दी लाट' 1974 में प्रसारित किए गए। 1962 में चीन के साथ युद्ध के अवसर पर एक और नाटककार उभर कर सामने आया। वह था विजय सुमन। देश-प्रेम और स्वतंत्रता-भाव की रक्षा के लिए विजय सुमन का नाटक 'सांझा मोर्चा' उन दिनों प्रसारित हुआ। इस के अतिरिक्त 'मिट्टी दी खुशबू', 'संजोग', 'पैरों पैर उचेरा', 'रंगां दी बहार' नाटक विजय सुमन ने लिखे जो प्रसारित किए गए।

1964 में कंवल कश्मीरी ने नाटक 'समें दे ग़ाज़ी' लिखा जो बाद में प्रसारित हुआ।

रेडियो पंजाबी नाटकों में कृपाल सिंह कसाली तथा डॉ० दविन्दर सिंह ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जो सातवें दशक में सामने आए।

एक तथ्य यहां स्पष्ट कर दें कि जम्मू रेडियो स्टेशन से पंजाबी नाटकों के लिए कोई अलग से समय नहीं रखा गया जैसे डोगरी, हिन्दी और उर्दू नाटकों के लिए है। जो भी नाटक प्रसारित हुए वे पंजाबी कार्यक्रम में ही हुए।

किरपाल सिंह कसाली के नाटकों का विषय भी सामाजिक व्यंग्य, मानवी कुंठाएं, नई चुनौतियां और प्रगतिशील सोच है। 'इक पराहुणां होर', 'मिट्टी दा मोह', '72 घंटे', 'इक लफ़ज दी मौत', 'पोटा-पोटा ज़ैहर', 'अद्धे आदमी', 'मां पंजाबी', 'हुण साडी वारी है', 'स्वर्ग धाम', कसाली के ये सभी नाटक रेडियो से प्रसारित हुए हैं। कसाली का लिखा एक और नाटक 'सच की है', दो खण्डों में, 'अपने-अपने घेरे' शीर्षक से प्रसारित हुआ है। डॉ० बलजीत सिंह रैना लिखित नाटक 'छोटे बड्डे रस्ते' प्रसारित हुआ। इस नाटक में व्यक्ति उन्नति करने के लिए लंबे मार्ग छोड़ कर चोर-मार्ग तलाशता दर्शाया गया है।

किरपाल सिंह कसाली, डॉ दविन्दर सिंह और बलजीत रैना ने रंगमंच के लिए बहुत नाटक लिखे जैसा कि हमारा विषय रेडियो पंजाबी नाटक तक सीमित है इस लिए इसी संदर्भ में ही बात करेंगे। डॉ० दविन्दर सिंह के नाटकों का कथानक सामाजिक समस्याएं, पारिवारिक बातें तथा हास्य-व्यंग्य रहा है। उनकी हास्य नाटिका 'रब दी शामत' में बताया गया है कि ईश्वर ने तो व्यक्ति को बनाया लेकिन आज यदि ईश्वर भूल से पृथ्वी पर आ जाए तो उसका यह बन्दा उसे भी चूना लगा दे। ऐसे ही नाटक 'निकियां-निकियां गल्लां' में बताया है कि घर में माहौल ही संवारने अथवा बिगाड़ने में छोटी-छोटी बातें कितना महत्त्व रखती हैं। 'नाटककार' नाटक में लेखक की रचना-प्रक्रिया का चित्रण है। इन नाटकों के अतिरिक्त एक हास्य-नाटिका भी उन्होंने लिखी और ये सब नाटक आकाशवाणी के जम्मू केन्द्र से प्रसारित हुए।

पंजाबी रेडियो-नाटकों में रियास्त से बाहर के लेखकों के योगदान को भी नज़र अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। इन में बलवंत गार्गी, करतार सिंह दुग्गल के अतिरिक्त जालन्धर के हरबंस सिंह खुराना की लिखी तथा प्रस्तुत की झलकी 'फाइल' दिल्ली के दविन्दर सिंह का लिखा तथा प्रस्तुत किया नाटक 'उंगलियां दे निशान' भी सम्मिलित हैं। रियास्त के बहुत से लेखकों के फुटकल कई नाटक आकाशवाणी जम्मू के पंजाबी कार्यक्रम की शोभा बने हैं।

डॉ० भुपिन्दर सिंह सूदन लिखित नाटक 'सच दे रूबरू' 1983 में प्रसारित किया गया। जिस में सुक्रात द्वारा विष-पान के दृश्य को दर्शाया गया है। 1983 में ही दविन्दर सिंह 'विश्वनागरिक' का लिखा नाटक 'पोह दी पुन्नेआं', हरभजन सिंह सागर लिखित व्यंग्यात्मक नाटक 'साहित्यकार दे पराहुणें', 1975 में प्रसारित किया गया। इसी प्रकार डॉ० चम्पा शर्मा की दहेज पर लिखी नाटिका 'पीले हत्थ' (1976) उदयबीर सिंह का लिखा नाटक 'दाल न गली' (1976) तथा कमला शर्मा का नशे की आदत तथा अपराधीकरण के विषय में नाटक 'सवेर दा भुल्लेआ' कई बार प्रसारित किया गया।

इस लेख के लेखक ने भी रेडियो नाटक तथा झलकियां लिखीं। जिन में मुंशी प्रेम चन्द की प्रसिद्ध हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर' का पंजाबी रेडियो नाट्य-रूपान्तर, बंद-हड़तालों के विरोध में झलकी 'रस्ता क्यों रोकदे हो', 'नवियां किरणां साडी मुट्ठी विच', 'आपणें-आपणें घेरे', सामाजिक नाटक 'दिलां दी दुकान' तथा 'शाहवेला' शामिल हैं।

वास्तव में रेडियो से प्रसारित किसी भी क्रार्यक्रम का रिकार्ड रखना या ढूंढ़ना कठिन होता है। नाटक हो या रूपक, कहानी हो या वार्ता, इसका क्रमबद्ध रिकार्ड

नहीं मिलता। यह रिकार्ड न आकाशवाणी के केन्द्र के पास होता है, न ही केन्द्र के विभाग के पास। कर्मचारी बदलते रहते हैं। कोई भी रचना प्रसारित होती है तो बस बात हवा में ही फैल कर रह जाती है। न तो सभी रिकार्डिंगज़ संभाल कर रखी जाती हैं, न ही उन की प्रतिलिपियां।

अतः कुछ नाम रह जाते हैं जिनका एक-आध नाटक प्रसारित हुआ होगा जिसका कहीं रिकार्ड नहीं।

नाटक में लेखक के अतिरिक्त निर्देशक तथा पात्रों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। लेखक की परिकल्पना को साकार करने वाले निर्देशक और कलाकार ही होते हैं।

जम्मू से पंजाबी रेडियो नाटक प्रस्तुत करने में महमूद अहमद और टी० एस० सोढी के अतिरिक्त सी० परवाना, रतन कलसी और के० के० दुग्गल का बहुत योगदान रहा है। इस वर्ग में इस लेखक को भी गिना जा सकता है।

कलाकारों में कृष्ण दत्त, बलदेव चन्द, चन्द्र मोहिनी, ज्ञान देव सेखड़ी, बंसी केरनी, श्रीमती आनन्द, जीया लाल शर्मा, और रीटा यूसफ़ का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। यों तो जम्मू केन्द्र के डोगरी, हिन्दी, उर्दू के लगभग सभी नाटक कलाकार पंजाबी नाटकों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। राम कुमार अबरोल, आर० के० सोनी, जे० सी० भारती, अविनाश चौधरी, पुष्पा पुशकरना, ऐडलिन रूही, बी० एस० मनहास और जितेन्द्र शर्मा से लेकर आज के भी कई ए० ग्रेड कलाकार पंजाबी नाटकों में भाग लेते रहे हैं।

इनके अतिरिक्त डॉ० अरविन्दर सिंह 'अमन', प्रितपाल सिंह बेताब, रतन कलसी, विक्रमजीत सिंह 'विक्की', किरपाल सिंह कसाली और चन्दा चौधरी ने भी पंजाबी रेडियो नाटकों में भाग लेकर अपनी प्रतिभा स्थापित की है।

आज कल टी० वी० चैनलों पर दर्शाए जाने वाले धारावाहिक इस प्रकार छा गए हैं कि रेडियो-नाटकों का भविष्य धुंधला गया है। पैसे की दौड़ में साहित्यिक महत्त्व और गंभीर नाटक कहीं खो गए हैं। रेडियो-नाटकों में लेखक, कलाकार और निर्देशक को वह मेहनताना नहीं मिलता जो टी० वी० चैनल देते हैं। चाहें वहां कलाकारों का शोषण अधिक होता है, फिर भी इस व्यवसाय से जुड़े कलाकारों, कर्मियों का झुकाव टी० वी० की ओर बढ़ता जा रहा है।

ooo

जम्मू-कश्मीर का पंजाबी नाटक एंव रंगमंच

❑ बलजीत सिंह रैना*

साहित्य की विभिन्न विधाओं में से नाटक को सब से प्राचीनतम विधा माना गया है, परन्तु पंजाबी नाटक का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। जम्मू-कश्मीर में पंजाबी नाटक का इतिहास तो बहुत ही संक्षिप्त है। मैं राज्य के पंजाबी नाटक रगंमंच के बारे में बात करने से पहले इस विषय को दो काल-खण्डों में विभाजित करना चाहूंगा। पहला 1975 तक पंजाबी नाटकों की प्रस्तुतियां, दूसरा-1975 के बाद पंजाबी नाटकों की रंगमंच पर निरंतर प्रस्तुतियां।

खण्ड पहला

1947 से पहले पुन्छ में बहरूपियों की परंपरा थी, जो नित्य नए 'स्वांग' प्रस्तुत किया करते थे। रासलीला का ही एक स्थानीय रूप 'पतंगी' पुन्छ में आकार ले चुका था, जिसमें लड़के-लड़कियों के वस्त्र पहन कर नाचते और ''पूरण भगत, सस्सी-पुन्नु, सोहणी-महीवाल, हरीशचन्द्र-तारामति'' इत्यादि इतिहास/मिथिहारस की लोक-कथाओं के नाटकीय रूपांतरण प्रस्तुत करते थे। पुन्छ के राजा ने एक थिएटर पुन्छ में बनवाया था, जिसे 'थिएटर हॉल' कहा जाता था, परन्तु अब इसे 'मण्डी हॉल' के नाम से जाना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मण्डी शब्द 'मण्डुए' का ही बिगड़ा हुआ रूप है, जिसका अर्थ 'मंच' होता है।[1] 1947 से पहले इस में खेले जाने वाले उर्दू नाटकों के आरम्भ में अथवा किसी दृश्य की तैयारी के अंतराल में पंजाबी, पुन्छी या पोठोहारी भाषा में विशेष झलकियां, टिचकरें, एवं हास्य-नाटिकाएं प्रस्तुत की जाती थीं। पुन्छ के इलावा, कोटली, मीरपुर, जम्मू, बसोहली, रामकोट, ऊधमपुर, रामनगर एवं कठुआ में भी रामलीला अथवा दूसरे धार्मिक नाटकों के मंचन के साथ-साथ ही 'सस्सी पुन्नु, जैदरथ वध, द्रौपदी चीर हरण, पूरण भगत' आदि नाटकों के साथ ही मीरपुरी/पोठोहारी बोली में झलकियां पेश की जाती थीं। मीरपुर में तो सामाजिक नाटकों के मंचन की जानकारी भी मिलती है। पोठोहारी

---

* *कुंजवानी, पट्रोल पंप के पीछे, जम्मू-180010*

बोली में अपने आस-पास की ही सामाजिक घटनाओं को लेकर छोटी-मोटी झलकियां या नाट्य प्रस्तुतियां बिना किसी झिझक या डर के मंचित की जाती थीं। इस काम में श्री बाल मुकंद जी बहुत ही माहिर कलाकार थे।

1948 में जम्मू रेडियो से पंजाबी कार्यक्रम की शुरुआत हुई और इसके साथ ही शुरू हुआ रेडियो नाटकों और झलकियों का निरंतर सिलसिला, जिन में से कुछ चुनिंदा रेडियो नाटकों का जम्मू रेडियो द्वारा समय-समय पर मंचन भी किया गया। टी. एस. सोढी और महमूद अहमद की जोड़ी ने रेडियो के लिए धारावाहिक पंजाबी नाटक लिखे। पहला 'जाना' और दूसरा 'भाइया मेहरचंद। टी. एस. सोढी ने 'मिरजा साहिबा', 'इक मुट्ठ चावल दी' एवं 'कुड़माई' नाटक भी लिखे। महमूद अहमद ने 'हाशम दा पक्खा', 'ज़ालिम खां' एवं 'नूरदीन' शीर्षक से धारावाहिक रेडियो नाटक लिखे। नूरदीन की तो बहुत-सी कड़ियों के रंगमंच पर सफल प्रदर्शन भी हुए। जैसे 'नूरदीन' ने थेटर खोलेया, नूरदीन ने घुग्गु दा व्याह कीता' नूरदीन ने क्रिकेट खेडया' 'नूरदीन ने कार खरीदी', 'नूरदीन चन्न ते गया', 'नूरदीन ने चोर फड़ेया' इत्यादि।[2] उसी दौरान कृष्ण चंदर का पंजाबी नाटक 'नाल दा मकान' भी मंचित हुआ।

1954 में तेरा सिंह चन्न का लिखा पंजाबी नाटक 'साजिश' जम्मू प्रेड ग्रांउड में खेला गया। इसी वर्ष हरचरण सिंह का लिखा 'रत्ता सालू' भी नरिंदर दुसांझ एवं जोगिंदर बाहरला के निर्देशन में प्रेड ग्रांउड जम्मू में मंचित हुआ। इसी प्रकार श्रीनगर में वुमेन कालेज की छात्राओं द्वारा बलवंत गार्गी का नाटक 'कणक दी बल्ली' और गुरदियाल सिंह फुल्ल का 'बैंक' नाटक प्रो. प्रेम सिंह की निगरानी में खेला गया।

अमृतसर नाटक कलाकेन्द्र ने दो नाटक 'किव कूड़ै तुटै पालि' और 'जिन सच पले होए' गुरू तेग बहादुर महाराज जी के 300 साला शहीदी समारोह के अवसर पर जम्मू में प्रस्तुत किए। 1973 में नानक सिंह के नावल पर आधारित 'कोई हरिया बूट रहियो री' गुरशरण सिंह द्वारा गुलाब भवन जम्मू में खेला गया। इससे कुछ वर्ष पूर्व ही गुरशरण सिंह अपनी मंडली और फिल्म अभिनेता बलराज साहनी के साथ दो दिन तक प्रेड ग्रांउड जम्मू में अपने लिखे 'भाई मन्ना सिंह' व अन्य नाटकों का मंचन कर चुके थे। बलराज साहनी उस समय दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण थे, जो बीच-बीच में अपनी फिल्मों के संवाद बोल कर या किसी गीत को अभिनय के साथ गाकर दर्शकों का मनोरंजन करते थे।

1957 से पहले इप्टा (IPTA) की ओर से तेरा सिंह चन्न का ऑपेरा 'अमर पंजाब' जम्मू में कई स्थानों पर प्रस्तुत किया गया। 'अमर पंजाब' की सफलता से

प्रभावित होकर विजय सुमन सोसन ने एक नाटक लिखा 'प्राहुणा' जो मई 1957 की पंजाबी कॉनफ्रेंस में पेश किया गया। 1957 में ही सी. परवाना ने प्रकाश साथी का लिखा नाटक 'नवियां राहवां'-यूथ होस्टल के मंच पर खेला। इस के सात और भी शो अलग-अलग स्थानों पर हुए। जम्मू रेडियो की ओर से आयोजित नाटक उत्सवों में विजय सुमन सोसन का 'पैरो पैर उचेरा', करतार सिंह दुग्गल का 'मिट्ठा पाणी' और बलवंत गार्गी का 'लोहा कुटट' रंगमंच की शोभा बने।

1962 के चीनी हमले से पैदा हुई संकटमयी स्थिति में आज़ादी की रक्षा के लिए प्रेरित करने वाला नाटक 'सांझा मोर्चा' विजय सुमन सोसन ने लिखा। सातवें दशक में सोसन ने 'सांझा मोर्चा' के इलावा 'संजोग', 'रंगां दी बरसात' एवं 'मिटटी दी खुशबू' नाटक भी लिखे। 1965 में उजागर सिंह महक ने भारत-पाक युद्ध को विषय बना कर 'लाशां दा सागर' नाटक लिखा जो 1968 में प्रकाशित होकर सामने आया। 'लाशां दा सागर' जम्मू कश्मीर में से प्रकाशित होने वाला पहला पंजाबी नाटक है। महमूद अहमद ने नूरदीन के बाद 'हद्द हो गयी', 'भाइया जी' एवं 'असीं वी हैगे आं' शीर्षक से सिलसिलेवार नाटक रेडियो के लिए लिखे, जो बीच-बीच में मंचित भी हुए। रेडियो के लिए पंजाबी नाटक और लेखकों ने भी लिखे जैसे कंवल कश्मीरी ('समें दे गाज़ी'-1964), दीदार सिंह (पंच परमेश्वर, रसता क्यों रोकदे हो, नवियां किरणा साढ़ी मुट्ठी विच, अपणे-अपणे घेरे, दिलां दी दुकान और शाहवेला-सभी सातवें दशक में), हरभजन सिंह सागर (साहितकार दे प्राहुणे-1975), डॉ. चम्पा शर्मा (पीले हत्थ-1976), उदयवीर सिंह (दाल ना गली-1976), ठाकुर पुन्छी (सुलफे दी लाट-1974), भुपेन्दर सूदन (सच्च दे रू-ब-रू 1983) देविन्दर सिंह विश्वनागरिक (पोह दी पुन्नेयां-1983) और कृपाल सिंह कसाली (इक प्राहुणां होर, बहत्तर घंटे, मिट्टी दा मोह, अद्दे आदमी, इक लफ़्ज़ दी मौत, हुण साढी वारी ऐ, मां पंजाबी, स्वर्ग आश्रम, भटकण, इत्यादि)। हां, मेरा लिखा एक रेडियो नाटक 'छोटे-वड्डे रस्ते' रेडियो कश्मीर जम्मू की ओर से अभिनव थिएटर में मंचित हो चुका है।

खण्ड दूसरा-

1975 के बाद के पंजाबी थियेटर का अध्ययन करते हुए जो बात बड़ी स्पष्ट रूप में उभरकर हमारे सामने आती है, वो है, राज्य के पंजाबी नाटक का बाकायदा रंगमंच से जुड़ना। रंगमंच के साथ जुड़ने से मेरा अभिप्राय एक लहर या अंदोलन की तरह रंगमंच से जुड़ना और लगातार मंच पर खेले जाने से है। यदि हम पिछले तीस वर्ष में मंचित पंजाबी नाटकों को देखें तो पता चलता है कि इन तीन दशकों में न केवल 90 से अधिक पंजाबी नाटकों का मंचन बार-बार राज्य में हुआ है अपितु

कुछ नाटक तो दस-दस, बारह-बारह बार मंचित भी हुए हैं। यानि औसतन तीन नाटक हर वर्ष मंचित हुए। जब कि इस से पहले बाहर से आयी नाटक मंडलियों के नाटक ही अधिक मंचित होते थे। दरअसल हमारे देश में नाटक रंगमंच का आधुनिक दौर पूरी तरह विदेशी प्रभाव के साथ ही आरम्भ हुआ, जो हमारी नाट्य-परंपराओं से भिन्न ही नहीं बल्कि एक तरह से विपरीत भी था। स्वर्गीय डॉ. भुपिन्दर सिंह सूदन के अनुसार-'भूगोलिक अलगाव, पिछड़ेपन के साथ-साथ ही हमारा स्वभाव अभी तक उतना गंभीर और संवेदनशील नहीं हो पाया, इसके कारण भी हमारी संस्कृति एवं इतिहास में निहित हैं।'[3] इसी प्रकार राज्य का पंजाबी रंगमंच महानगरीय रंगमंच की तरह व्यवसायिक न होने के कारण न केवल आर्थिक समस्याओं से जूझता रहा अपितु नारी पात्रों का अभिनय करने के लिए अभिनेत्रियों के सहज ही उपलब्ध न होने की वजह से भी काफी पिछड़ा रहा। यही कारण था कि जब रेडियो के लिए पंजाबी में धारावाहिक नाटक लिखे जा रहे थे तब रंगमंच से नाटकों का रिश्ता नाम मात्र का ही था। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समय-समय पर बाहर से आई नाटक-मंडलियों ने अपने मंचित नाटकों से स्थानीय नाटककारों को प्रेरित कर रंगमंच से जोड़ने में विशेष भूमिका निभायी है।

इस अरसे में मंचित 90 से अधिक नाटकों में से कुछ नाटक तो केवल मनोरंजन तक सीमित रहे, जैसे ''शीशमहल, मौज वणजारा लै गया, पुवाड़ा स्वैटर दा,...'' आदि और कुछ नाटक अपने उद्देश्य से भटक गए, जैसे ''रब्ब दी शामत, बाबुल दा वेह्ड़ा, मच्छियां, कब्रिस्तान, गरक हो रेहा मनुक्ख, बेगाने बोहड़ दी छां,''...आदि, और अपने उद्देश्य एवं मंचन में सफल होने वाले अधिकतर नाटक रूसी लेखक अलैक्ज़ैंडर हरज़ेन के इस कथन की पुष्टी करते हुए सामने आए :

"The theatre is political parliament where as in highest instance, all the most vital problems of the age are being discussed."[4]

उदाहरण के तौर पर 'हम लाल-पीले लोक, आज़ादी बनाम गुलामी, कानून कित्थे है, एह् लोक, कुदरत दे सब बंदे, सरहद्दां, भुक्ख ही भुक्ख, नाटक नहीं मुक्केया, अग्ग दे विच, रब्ब दी बैठक विच, अंबियां नूं तरसेंगी, बाबा बन्तू, बलदे जंगल दे रूक्ख, टोआ, पंजाब दी आवाज़, रिश्तेयां दा की रक्खिएं नां, अजीत राम, खुसरो'...आदि नाटकों के नाम ले सकते हैं। यही कारण है कि हम जम्मू के पंजाबी नाटक रंगमंच को एक अंदोलन की तरह उभरता हुआ देखते हैं।

फरवरी 1975 में देविन्दर सिंह ने रंगमंच के लिए एक झलकी 'शीशमहल' लिखी और गुलाब भवन जम्मू में प्रस्तुत की जो बाद में युनिवर्सिटी और गुलाब भवन में दोबारा मंचित हुई। यह एक हल्की-फुल्की झलकी थी। जिसमें गांव की एक लड़की द्वारा शहर में शीशमहल देखते समय प्रतिध्वनि सिद्धांत से अनभिज्ञ होने के कारण हास्य स्थिति को उभारने में नाटककार काफी सफल रहा। मंच पर पांच-छः पात्रों पर सफ़ेद कपड़ा डाल कर उन्हें मूर्तियां बनाकर शीशमहल का दृश्य संयोजन किया गया था। यह मूर्तियां पात्र शीशमहल देखने आयी गांव की एक लड़की के हर वाक्य को प्रतिध्वनि गूंज की भांति दोहरा देतीं और अपनी मौसी से अचानक बिछुड़ी वह लड़की हैरान-सी हुई उन मूर्तियों को भूत समझकर डर जाती है। मंचीय दृष्टि एवं अपने उद्देश्य यानि मनोरंजन की दृष्टि से भी यह एक सफल झलकी रही।

इस नाट्य-झलकी की सफल प्रस्तुति ने देविन्दर सिंह को और नाटक लिखने एवं खेलने के लिए प्रेरित किया और परिणाम स्वरूप देविन्दर सिंह ने बाकायदा 'बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच' की स्थापना की जिसकी प्रथम प्रस्तुति के तौर पर देविन्दर सिंह का ही लिखा एवं निर्देशित किया हुआ नाटक 'नाटककार' गुलाब भवन में 1977 में मंचित हुआ। दूसरी बार इस नाटक के कुछ हल्के-फुल्के हास्य दृश्य 1978 में रणबीर सिंहपुरा हाई स्कूल में भी प्रस्तुत किये गए। इस नाटक का सूत्रधार एक नाटककार है और झलकियों द्वारा जिंदगी के उस यथार्थ को, जिसको जानते हुए भी लोग अनजान बने हुए हैं-लोगों के सामने लाता है। परन्तु नेपथ्य से आने वाली आवाज़ जो दर्शकों का प्रतिनिधि होने का दम भरती है, नाटककार के हर प्रयास की धर्म, समाज और संस्कृति के नाम पर तीखी आलोचना करती है। तब नाटककार वक़्त की सच्चाई को छोड़ कर हल्की-फुल्की सी हास्य-झलकी प्रस्तुत करता है। जिसका उद्देश्य मनोरंजन के इलावा कुछ भी नहीं होता, परन्तु दर्शक नाटककार के इस नाटक को पसंद कर लेते हैं। यहां नाटककार यह निष्कर्ष निकालता है कि दर्शक जीवन यथार्थ के साथ गंभीरता से जुड़ना पसंद नहीं करते, बल्कि हल्के फुल्के नाटक देखना चाहते हैं, जो केवल उनका मनोरंजन क़र सकें। परन्तु ऐसा परिणाम न केवल आधुनिक दर्शक के मानसिक दिवालिएपन की ओर इंगित करता है, बल्कि उसको मूर्ख भी सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। दर्शक को मूर्ख सिद्ध करने की अपेक्षा उसे शिक्षित करना ज़्यादा सार्थक एवं सृजणात्मक हो सकता था।

बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच की ओर से ही देविन्दर सिंह द्वारा लिखित एवं निर्देशित तीसरा नाटक 'इतिहास नहीं मरदा' 1979 में अभिनव थियेटर जम्मू में

रंगमंच की शोभा बना। यह बाद में बारामूला कश्मीर में भी मंचित हुआ। इस नाटक के द्वारा देविन्दर सिंह ने हमारे समूचे सामाजिक राजनैतिक ढांचे में व्याप्त भ्रष्टाचार की ताकत को हमारे नैतिक पतन का जिम्मेवार ठहराते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि शरीफ आदमी का इस भ्रष्ट समाज में गुज़ारा नहीं, चाहे उसके पास सत्ता की ताकत ही क्यों न आ जाए। तब भी वह मौजूदा सड़े-गले ढांचे का पुननिर्माण करने में अक्षम है और उसके पास स्वयं को इस भ्रष्ट तंत्र में पूरी तरह से ढाल लेने के इलावा और कोई चारा नहीं। हाल में बैठा दर्शक नाटक देख कर सोचता है कि अगर एक शासक होकर भी कोई नेता अन्याय के विरुद्ध नहीं लड़ पाता तो एक साधारण नागरिक कैसे लड़ सकता है। यह निष्कर्ष इस नाटक को कमज़ोर बनाता है। इसी संदर्भ में Vassily Vassiliyar के शब्दों में :-

"What are you living for? You are playing out an endless drama that could be entitle "Neither here, nor there."[5]

'इतिहास नहीं मरदा' नाटक के द्वारा एक ओर तो भ्रष्ट राजनैतिक, सामाजिक यथार्थ को सामने लाया गया है, लेकिन दूसरी ओर इसको सुधारने के स्थान पर इसी का एक अंग बन जाना एक हारे हुए नायक के बिम्ब को उभारता है।

इसके बाद 1979 में ही देविन्दर सिंह का लिखा एवं निर्देशित किया नाटक 'रब दी शामत' और सुशील शर्मा का लिखा एवं निर्देशित किया हुआ नाटक (एकांकी) 'एह् लोक' एकसाथ अभिनव थियेटर में प्रस्तुत हुए। 'रब दी शामत' में यह दिखाने का प्रयास किया था कि शैतान ने इस दुनिया में झूठ और फरेब का ऐसा जाल बिछा रखा है कि अगर रब्ब (ईश्वर) भी इस दुनिया में आ जाए तो लोग उसको भी झूठा और धोखेबाज़ समझ लेंगे। लेकिन यह नाटक अपनी प्रस्तुति में इतना सफल नहीं रहा कि इस पर विस्तार से बात की जा सके। इसके बरअक्स सुशील शर्मा का एकांकी 'एह लोक' अधिक सफल रहा। इस एकांकी में पुलिस विभाग में व्याप्त भ्रष्ट कार्यशैली को अपना विषय बनाया गया है। डिप्टी कमीश्नर बाली और उसकी पत्नी मोहिनी द्वारा भ्रष्ट अफसरों को रंगे हाथों पकड़वा कर पुलिस विभाग में कुछ ईमानदार अफसरों की उपस्थिति को भी स्वीकारा गया है। सुशील ने पुलिस थाने का माहौल बड़ी खूबसूरती के साथ चुस्त संवादों के सही प्रयोग से उभारने में सफलता हासिल की है। रहस्य को एक युक्ति (Device) के रूप में प्रयोग करके भी नाटक को रोचक बनाया गया है।

इस तरह आठवें दशक के उत्तरार्ध तक पंजाबी नाटकों के लगातार मंचन से जम्मू-कश्मीर में पंजाबी नाटक रंगमंच के लिए एक मज़बूत आधार बन गया। नवां

दशक भले ही राजनैतिक, आर्थिक, प्राकृतिक एवं साम्प्रदायिक प्रकोपों से ओत-प्रोत रहा, लेकिन जम्मू-कश्मीर के पंजाबी नाटक ने इस दशक में न केवल पुस्तक रूप में प्रकाशित होने के लिए बल्कि रंगमंच पर भी अपनी निरंतरता बनाए रखने में विशेष स्थान बनाने में सफलता अर्जित की।

डॉ० देविन्दर सिंह के बाद जिस नाटककार ने पंजाबी नाटक रंगमंच की लहर को दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ाने में भरपूर योगदान दिया वह है कृपाल सिंह कसाली। वह बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच की स्थापना एवं नाटककार नाटक के मंचन के साथ ही कुशल अभिनेता के रूप में उभरकर सामने आ गये थे। नाटक लेखक के रूप में कसाली दिसम्बर 1982 में 'अज़ादी बनाम गुलामी' के मंचन के साथ सामने आए। यह नाटक रतन कलसी के निर्देशन में अभिनव थियेटर जम्मू में प्रस्तुत किया गया था। यह पहला रियासती पंजाबी नाटक था जिसके अब तक दर्जन-भर शो हो चुके हैं। इसमें एक निचले मध्यवर्गीय परिवार में मां-बाप को आर्थिक दुर्दशा की स्थिति में भी अपने बच्चों के उज्जवल भविष्य के लिए जीवन-संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। लेकिन इस नाटक में एक पात्र ऐसा था जिसका नाटक की कथावस्तु के साथ कोई संबंध नहीं था, परन्तु अपने मंजे हुए अभिनय के बल पर रतन कलसी ने इस 'पगला बाबा' की भूमिका में जान डाल दी। जिसे एक निर्देशक एवं कलाकार का कमाल कहा जा सकता है, लेखक का नहीं।

जून 1983 में 'बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच' द्वारा कृपाल सिंह कसाली का लिखा एवं निर्देशित किया हुआ नाटक 'सच की है' अभिनव थियेटर में मंचित किया गया। दुबारा यही नाटक एमेच्योर थियेटर ग्रुप की ओर से रतन कलसी के निर्देशन में भी रंगमंच की शोभा बना। इसकी कहानी निचले मध्यवर्गीय परिवार से संबंधित थी। यह नाटक दर्शकों के सामने यह प्रश्न उछाल कर खत्म हो जाता है कि सच क्या है? पैसा, रिश्तों का मोह या फिर आप की शराफत, आपका स्वाभिमान? पैसा हो तो आपका स्वाभिमान भी कायम रहता है और रिश्तों की गर्माहट भी।

इसी वर्ष डॉ. देविन्दर सिंह ने अपने विभाग की ओर से अपना ही लिखा एवं निर्देशित किया नाटक ''लाल-पीले लोक'' अभिनव थियेटर में मंचित किया। अपनी इस नाट्य प्रस्तुति द्वारा लेखक समसामयिक सत्य को उभारने में काफी हद तक सफल हुआ। इसमें आधुनिक जीवन में अनेक स्तरों पर फैले हुए झूठ, फरेब, राजनैतिक पाखण्डों, खोखले वादों को उजागर करने के साथ-साथ ही परिस्थितियों में कैद बेबस आदमी की नीयती एवं करुणा को उभारा गया था और देश के लोकतांत्रिक ढांचे पर एक तीखा व्यंग्य किया गया था। दिसम्बर 1983 में कृपाल सिंह कसाली

का लिखा एवं निर्देशित नाटक 'सरहद्दां' अभिनव थियेटर के मंच की शोभा बना। इस नाटक का ताना-बाना एक रिटायर्ड फौजी के परिवार एवं गांव के भ्रष्ट सरपंच को लेकर बुना गया है। इस नाटक द्वारा कसाली ने देश की बाहरी सरहद के साथ-साथ ही भीतरी सामाजिक सरहदों पर चल रही राजनैतिक भ्रष्टाचार की लड़ाई एवं वर्ण संघर्ष के साथ दर्शकों को साक्षात्कार करवाने में सफलता हासिल की। मक्खणा और धर्मा नाम के शराबी पात्रों द्वारा न केवल सरपंच के काले कारनामों को नंगा किया गया, बल्कि पुलिस अफसर खान और सरपंच के वार्तालाप से उनके नैतिक पतन और स्वार्थी चरित्र को भी उभारा गया। यह नाटक दर्शकों द्वारा बहुत सराहा गया। दिसम्बर 1984 में कृपाल सिंह कसाली का ही लिखा और निर्देशित किया हुआ नाटक 'नाटक नहीं मुकेया' बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच की ओर से अभिनव थियेटर में प्रस्तुत किया गया। यह देविन्दर सिंह के नाटक 'नाटककार' का ही दूसरा संस्करण कहा जा सकता है। इस नाटक में भी एक नाटककार की समस्याओं के साथ-साथ ही सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं के कई पक्ष सामने लाए गए थे। पहले दृश्य में ही सौ वर्ष पुराने भारतेंदु के लिखे नाटक 'अंधेर नगरी चौपट राजा' की एक सूत्रधार से बात चलवा कर वर्तमान समय में भी इस नाटक की कथावस्तु की सार्थकता सिद्ध करने की एक कमजोर कोशिश की गयी थी। परन्तु दूसरे दृश्य में बड़ी कलात्मकता से साथ दिखाया गया था कि कैसे एक छोटी मछली को निगलने के लिए बड़ी मछली तैयार बैठी है और उस बड़ी मछली को निगलने को उससे भी बड़ी मछली घात लगाए हुए है। तीसरे दृश्य में नाटककार के घर में उन नाट्य कलाकारों की बातचीत दिखायी गयी जिन्होंने पहले दोनों दृश्यों को दो अलग-अलग नाटकों के रूप में खेला था। इस दृश्य में भी नाटककार नाटक की तरह ही सभी पात्र यह परिणाम निकालते हैं कि दर्शक गम्भीर नाटक नहीं देखना चाहते। सभी मिलकर एक लचर-सा नाटक खेलने की रूपरेखा तैयार करते हैं। परन्तु उनकी महिला कलाकार ऐसे नाटक में अभिनय करने से इंकार कर देती है और उनसे अलग हो जाती है। लेकिन इस नाटक की खूबसूरती यह रही कि चौथे दृश्य में खेला जाने वाला नाटक राजनीतिक भ्रष्टाचार को नंगा करने वाली एक गहन गम्भीर प्रस्तुति के रूप में उभरकर सामने आया। यानि लचर नाटक खेलने के बारे में सोचकर भी नाटककार लचर नाटक नहीं खेलता और अपने असूलों पर कायम रहता है।

1984 के रियासती नाटक प्रतियोगिता में भी कृपाल सिंह कसाली द्वारा लिखित एवं रतन कलसी द्वारा निर्देशित नाटक 'भुख ही भुख' अभिनव थियेटर में प्रस्तुत किया गया। इस नाटक में कसाली ने महानगरों में तेजी से पनप रही फुटपाथ-झुग्गी-झोंपड़ी संस्कृति में जीने वाले, गरीबी की रेखा से निचले स्तर का

जीवन जीते लोगों को अपने नाटक की आधारभूमि बनाया था। शोषक वर्ग यानि मंत्री, लाले और पुलिस कर्मी शोषित वर्ग के लोगों की भावनाओं और जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं, इसी बात को 'भुख ही भुख' नाटक द्वारा उभारा गया है। अपने जागरूक नेता के कहने पर भ्रष्ट नेता को वोट न डालने के बावजूद वह जीत जाता है, तो शोषित वर्ग के लोगों को उसे वोट न डालने के कसूर में परेशान करता है। पुलिस द्वारा उन पर जुल्म करवाता है और उनके नेता को गिरफ्तार करवा देता है। लोग इकट्ठे होकर थाने जाते हैं, लेकिन पुलिस उनके नेता को यातनाएं दे देकर मार डालती है। चुना गया नेता अब नयी राजनैतिक चाल चलता है और हमदर्दी जताते हुए उनके मर चुके नेता के बेटे के लिए सौ रुपये का नोट भेजता है, लेकिन मर चुके नेता का बेटा नोट फाड़ डालता है और तलवार उठाकर खड़ा हो जाता है।

संत सिंह सेखो-'हवेली छांवे खड़ा रब्ब' कहानी संग्रह की भूमिका में लिखता है-''दरिद्र गरीब और मंगते पात्र भी साहित्य के लिए योग्य पात्र नहीं है। दु:ख और क्लेश का वर्णन साहित्य में उसी प्रसंग में जंचता है जब इनको भोग रहे पात्र उत्साह एवं दिलेरी के साथ इनका विरोध करते हों। एक बात, जिससे बचना चाहिए, वह है, अयोग्य आदमी पर करुणा बरसाने की लालसा।'' लेकिन 'भुख ही भुख' के पात्र गरीब दरिद्र होते हुए भी लड़ते हैं, झुकते नहीं। नेता के पुत्र द्वारा सौ रुपये का नोट फाड़ कर तलवार उठा लेना भविष्य में लड़ी जाने वाली लड़ाई की ओर संकेत है-और यही बात इस नाटक की प्रस्तुति को सार्थक बनाती है।

मार्च 1985 में ''बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच'' की ओर से ही कृपाल सिंह कसाली का लिखा एवं निर्देशित नाटक ''बाबा जित्तो'' रणबीर सिंहपुरा में खेला गया, जो एक माह के बाद ही अभिनव थियेटर जम्मू की भी शोभा बना। यह नाटक डुग्गर के ऐतिहासिक लोक नायक बावा जित्तो के संघर्षशील जीवन पर आधारित था। पंजाबी साहित्य में ऐतिहासिक अथवा मिथकीय किस्से-कहानियों को अपने-अपने ढंग के साथ वर्तमान मूल्यों की कसौटी पर परख कर विविध आयाम देने वाले लेखकों की समृद्ध परम्परा रही है। जैसे शिव कुमार ने 'पूरण भगत' किस्से की लूणा की विवशता को प्रमाणित करते हुए उसके चरित्र को अपने महाकाव्य 'लूणा' में नये आयाम दिए हैं। लेकिन कसाली ने ऐसा कुछ भी नहीं किया, बल्कि इस कहानी को ज्यों का त्यों ही प्रस्तुत कर दिया। बावा जित्तो के नाटक के अंत में सारा विद्रोह सामने खड़े ज़ालिम को खंजर घोंपने की जगह अपने पेट में घोंप लेने के कारण एक ऐसे हारे हुए नायक का बिम्ब उभरता है, जो जालिम-नाशक होने की जगह

आत्मघाती मज़लूम–नाशक बन के रह गया। मंचन के पक्ष से भी यह नाटक एक कमज़ोर प्रस्तुति ही रहा।

पंजाब के इतिहास में एक–एक करके बहुत–सी त्रासदिक घटनाएं घटीं, जिनके साथ समाज के ऐसे विरोध उजागर हुए जो पहले थे ही नहीं या फिर समग्रता के साथ नहीं उभरे थे। जहां गुरशरण सिंह ने 'कुलाज तेरा नां पंजाब', 'बाबा बोलदा है', 'कर्फयू', 'चंडीगढ़–पुआड़े दी जड़' आदि राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों को काउंटर करने वाले ऊंचे स्तर वाले नाटक लिखे, मंचित किए–व जम्मू में कृपाल सिंह कसाली ने धीमी गति का यथार्थवादी स्वर में 'अग्ग दे बीज' नाटक लिख कर अपने ही निर्देशन में प्रस्तुत किया। यह कसाली का सर्वाधिक सफल नाटक रहा, जिसके अब तक 18–20 मंचन हो चुके हैं। इस नाटक में कसाली ने साम्प्रदायिक सद्भाव एवं मानव प्रेम की बात की है। इसमें न केवल निष्पक्षता के साथ इस साम्प्रदायिक ज़हर को फैलाने वाले स्वार्थी राजनीतिज्ञों को नंगा किया गया है, बल्कि स्पष्ट किया है कि कैसे धर्म के नाम पर अन्धे होकर हम अपने ही भाइयों का खून बहा देते हैं। इस नाटक में माँ का पात्र निभाने वाली कलाकार श्रीमती संतोष सांगड़ा ने अपने सशक्त अभिनय से दर्शकों की आंखें भिगो डाली थीं। उन्हें इस भूमिका के लिए उस वर्ष सर्वश्रेष्ट अभिनेत्री का पुरस्कार भी मिला था लेकिन कसाली के इस नाटक में कुछ कमज़ोरियां भी थीं। जैसे कि नाटक के दो दृश्यों में एक बच्चा मंच पर आता है, जो कि पड़ोसियों का बच्चा है और तोतली ज़बान में बातें करता है।

पहली बार वह चूहेदानी लेने के बहाने आता है और दूसरी बार चूहेदानी लौटाने के लिए और दोनों बार वह चूहों और रामलीला में किए अपने अभिनय की हास्य उपजाने वाली बातें करके चला जाता है। यह बच्चा अपने भोलेपन में ही यदि नाटक की थीम के साथ जुड़ती किसी गहरी बात को हल्के–फुल्के अंदाज़ में ही कह जाता तो नाटक के समूचे प्रभाव में कुछ बढ़ोतरी कर सकता था।

इन दो नाटककारों के इलावा सुशील शर्मा, विक्रमजीत, और बलजीत रैना ने भी कुछ एक नाटक लिखे एवं रंगमंच पर प्रस्तुत किए। सुशील शर्मा ने अपने लिखे तीन एकांकी 'एह लोक, मौज वणजारा लै गेया, पुआड़ा स्वैटर दा' और एक पूरा नाटक 'कानून कित्थे है' का निर्देशन स्वयं किया था। परन्तु मैं उसके सभी नाटक देख नहीं पाया इसलिए नाटकों के बारे में डॉ. भुपिन्दर सूदन के शब्दों को दोहराना चाहूंगा।

'एह लोक' अपनी मौलिकता और समूचे संगठन में सफल होने के कारण काफी सराहनीय रहा। दोनों एकांकी 'पुआड़ा स्वैटर दा और मौज वणजारा लै गेया' जहां अपने संवादों के कारण व्यंग्यात्मक एवं हास्य रस के थे वहीं उनका उद्देश्य बड़ा गंभीर और संवेदनात्मक था। इसलिए ये दोनों एकांकी देर तक चर्चा का केन्द्र बने रहे।[6]

मैंने पंजाबी के 'उजड़े आह्लणे दे पंछी', 'छोटे-वड्डे रस्ते', नाटकों के इलावा 'एक दलित प्रेम कथा', 'पृष्ठभूमि', 'जादूगर', 'विज्ञापन', एवं 'मंज़िलें और रास्ते', नाटक हिन्दी में हिन्दी नाट्य-मंडलियों की मांग पर लिखे, परन्तु अपने निर्देशन में इन्हें पंजाबी में ही खेला। 'उजड़े आह्लणे दे पंछी,' नाटक पर बाद में 'घर-परिवार' शीर्षक से पंजाबी टैली फिल्म भी बनी।

विक्रमजीत (विक्की) जम्मू का सब से छोटी आयु का प्रतिभाशाली रंगकर्मी है जिस ने 29 अक्तूबर 1983 को अपने पहले पंजाबी नाटक 'कुदरत दे सब बंदे' के साथ शुरुआत करने के बाद 'रब्ब दे बराती', 'बाबल दा वेह्ड़ा', 'मैं हिन्दोतान हां' जैसे पंजाबी नाटकों का लेखन-निर्देशन किया। यह पंजाबी नाटक राज्य की भाषा अकादमी द्वारा आयोजित 'नाट्य-उत्सवों' में भी खेले गए व दूसरी नाट्य-संस्थाओं द्वारा भी खेले जाते रहे। अपने लिखे नाटकों के इलावा विक्रमजीत ने 'हल्ला बोल', 'बाबा बंतू', 'टोआ', 'लावारिस' आदि पंजाबी नाटकों का निर्देशन व उनमें अभिनय भी किया। कुल मिलाकर विक्रमजीत के इन पंजाबी नाटकों के लगभग 25 के करीब मंचन हुए। जम्मू के पंजाबी रंगमंच में विक्रमजीत का सब से बड़ा योगदान उसके द्वारा संपादित व प्रकाशित पंजाबी रंगमंच के संबंध में 'आधार' पत्रिका का विषेश अंक है जिस में जम्मू के पंजाबी रंगमंच का इतिहास दर्ज है।

मनोरंजन कला केंद्र के टी. एस. प्रेमी एक ऐसे नाटककार है जिन्होंने गिणती में सब से अधिक 25 नाटकों के 63 मंचन किए। इनमें से नाटक 'धंधुकारा' के ही लगभग 12 सफल मंचन हुए। नि:संदेह टी. एस. प्रेमी बड़ी लगन एवं निष्ठा से पंजाबी रंगमंच के लिए सक्रिय हैं परन्तु रंगमंच की समृद्ध भारतीय परंपरा एवं आधुनिक मंचीय युक्तियों से अनभिज्ञता उन्हें कठिन परिश्रम के बावजूद एक बड़े नाटककार के रूप में स्थापित नहीं कर पायी। उनके द्वारा निर्देशित कुछ नाटकों ने दर्शकों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया है, जैसे-'नानक नाम संभाल तू, तेरा भाणा मीठा लागे, निर्धन को पाले, गानी, हवेली वाली जट्टी, फासले, मां-पुतर, पागल लोक, शहर बीमार है', इत्यादि।

इनके इलावा स्वर्गीय विजय भारद्वाज ने भी कुछ पंजाबी नाटकों का निर्देशन किया जैसे 'टोआ' और सुशील शर्मा लिखित 'बंदा'। बंदा नाटक के लिए उन्होंने पठानकोट में अभिनय कला मंच के नाटक-उत्सव में सर्वाधिक पुरस्कार भी प्राप्त किए।

शमशेर सिंह चौहालवी अपने मिलनसार स्वभाव के कारण पंजाबी नाटक-लेखक होने के साथ-साथ सभी पंजाबी नाट्य-निर्देशकों का प्रिय कलाकार है। इसलिए उसने जम्मू पंजाबी रंगमंच से जुड़े लगभग हर पंजाबी नाट्य-निर्देशक के साथ काम किया है। चौहालवी ने अपने मंचित नाटकों 'असली धन्न, रोसा घर-घर दा, निक्के-निक्के घेरे' के इलावा 'पृथ्वी सिंह राठौर, कातल, रोटी' आदि नाटकों का निर्देशन किया।

श्रीनगर में भी सातवें दशक के अंत में सुजान सिंह और सुभाष कौल ने मिलकर रंगमंच के लिए पंजाबी में गुरशरण सिंह के 'एह् लहू किस दा है,' 'घुम्मणघेरी' और 'नंगा मनुक्ख' एवं हरपाल टीवाणा के दो नाटक टैगोर हाल श्रीनगर में मंचित किए। इसी प्रकार आत्मजीत का नाटक 'अन्ने-काणे' भी नूर-उल-कुरैशी और उनके साथियों द्वारा मंचित किया गया।

रियासती पंजाबी नाटक केवल जम्मू के नाटककारों द्वारा ही लिखे एवं खेले जाने के कारण रियासती मंच तक ही सीमित रहा और रियासत से बाहर के किसी भी नाटककार ने इन नाटकों को खेलने में रुचि नहीं ली। जबकि जम्मू के नाटककारों ने पंजाब और दिल्ली के नाटककारों के लिखे हुए नाटकों का जम्मू रंगमंच पर सफल मंचन किया। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रियासती पंजाबी नाटक अपनी उस मुख्य धारा में शामिल नहीं हो सका, जो अपनी अंतर्राष्ट्रीय पहचान बना चुकी है। उदाहरण के तौर पर डॉ. हरचरण सिंह के 'राणी जिन्दां' और 'चमकौर की गढ़ी' नाटकों का न्यूयार्क, वॉशिंगटन, ओटावा एवं टोराटों में मंचन किया, गुरशरण सिंह के 'किव कूड़े तुट्टे पाल', 'चांदनी चौक तो सरहद तीक', 'टोआ', 'मिटी दा भार' आदि नाटकों का भी विदेशी शहरों में मंचन हुआ। बलवंत गार्गी के 'केसरो' का विदेशी मंच-मंडलियों द्वारा मंचन पहले ताशकंद फिर योरूप, चीन और जापान में हुआ। 'सोहनी-महीवाल' जिप्सी रीति-रिवाजों के अनुसार, रूस में खेला गया और 'कणक दी बल्ली' को अनुवादित रूप में सर्वप्रथम रूस की मंच-मंडली ने खेला-बाद में ऑपेरा में परिवर्तन करके चैकोस्लोवाकिया में खेला गया। इसी प्रकार आत्मजीत और दूसरे पंजाबी नाटककारों ने भी, अंतर्राष्ट्रीय नाट्य-धारा में अपनी पहचान बनायी है।

इन नाटककारों की उपलब्धियों का जिक्र इस लेख में केवल इसलिए ही किया जा रहा है ताकि समृद्ध पंजाबी नाट्य-परंपरा की रोशनी में यह स्पष्ट किया जा सके कि जम्मू कश्मीर में तीन दशक का नाटक मंचन का इतिहास बनाने वाले नाटककारों को एहसास हो कि उन्हें कहां से आरम्भ करना चाहिए था।

डॉ. हरचरण सिंह लिखते है– ''पंजाबी नाटककार अब अपने सचेत प्रयासों द्वारा स्ट्रिंडबर्ग, लोरका, पिरांदलो, ब्रैख़त, बैकट, आयोनैस्की आदि पश्चिमी नाटककारों के प्रभाव ग्रहण करने लग पड़े थे–1960 से 1970 के बीच हर पंजाबी नाटककार ने प्रयोगवादी नाटक लिखे।'' स्वर्गीय कपूर सिंह घुमाण ने भी लिखा था कि–'समय आ गया है कि पंजाबी नाटक के विकास के लिए जोरदार हमला मार कर नये प्रयोगों की कड़ी शुरू की जाए।"

बहरहाल, इसमें कोई शक नहीं कि जहां पिछले 15 सालों का रियासती पंजाबी नाटक, पंजाबी नाट्य-परम्परा में अपने अस्तित्व का एहसास कराने में सफल हो पाया है, वहां साथ ही पंजाबी की सृजनात्मक साहित्य धारा के साथ एक सीमा तक जुड़ भी पाया है और मनोरंजन का घटिया-सा बुरजुआ साधन बनने की अपेक्षा एक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया है। इसलिए अब इसकी गणनात्मक पक्ष से ही नहीं, बल्कि गुणात्मक पक्ष से भी बात करनी आवश्यक हो गयी है। आज यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि तीस साल से लगातार नाटक लिखे-खेले जाने के बावजूद हमारे रियासती नाटककारों की राष्ट्रीय पहचान नहीं उभर पायी। थोड़ा गंभीरता से विवेचन करने एर हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि बावजूद तमाम वादों, नारों एवं घोषित अघोषित प्रतिबद्धताओं के रियासती पंजाबी नाटककार मुख्यधारा से कट कर एक कोने में पड़े रहे। जिसका एक कारण यह भी है कि यहां के नाटककारों ने साहित्य की इस विधा को गंभीरता के साथ लिया ही नहीं। यहां तक कि कृपाल सिंह कसाली, जिनको सबसे अधिक नाटक मंचित करने का शरफ हासिल है, भी एक गंभीर नाटककार के रूप में नहीं उभर पाए और न ही मुख्यधारा में अपना कोई विशेष स्थान बना पाए। नाटकों में नए प्रयोग करने से पहले तो वह कतराते रहे, परन्तु जब 'मच्छियां' नाटक लिख-खेल कर उन्होंने मुख्यधारा में मिलने का प्रयत्न किया तो नाटक विधा के स्वरूप के सैद्धांतिक पक्षों के बारे में अधिक सचेत न होने के कारण आलोचना के पात्र बने। इस नाटक पर कई स्तरों पर बात की जा सकती है। 'मच्छियां' एकांकी में वह जबरदस्त आरम्भिक भूमिका पांच-छः मिनट तक लगातार इस अंदाज में बांधते हैं कि दर्शकों में नाटक के प्रति प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। फिर वह पंजाब की लोक-शैली में प्रवेश

कर जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कसाली भूमिका, नकल और तमाशा शैलियों को मिलाकर एक मिश्रित शैली तैयार करते हैं, जबकि यह सारा नाटक पैंतीस मिनट का ही था। भूमिका में और नकल द्वारा वह जो जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं–कि वह इस नाटक में किसी बहुत बड़ी बात को कहने जा रहे हैं–वह आगे जाकर तमाशे में पूरी नहीं होती। कसाली के नाटकों को देखते हुए एक बात और सामने आती है कि उनके लिए नाटक संवादों में लिखी हुई कहानी–मात्र है। प्रसिद्ध नाटककार आयोनैस्की कहता है :-

''मैं कहानी सुनाने के लिए नाटक नहीं लिखता। थियेटर महाकाव्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो नाटक है। मैं नहीं समझता नाटक का काम कहानी को बयान करने का है। फिर तो यह फिल्म बनानें अथवा नावेल लिखने जैसी बात हो जाएगी। नाटक एक ऐसी बुनतर है, जो चेतना की अलग–अलग स्थितियों का निर्माण करती है।''[8]

इसी संदर्भ में डॉ. कुलबीर सिंह कांग लिखते हैं ''नाटककार आम साहित्यकार से अधिक सचेत एवं बौद्धिक होता है, और जिसमें यह गुण नहीं होता, वह साधारण प्रकार के वार्तालाप लेखक ही रह जाते हैं।''[9]

कसाली नाटक को रोचक बनाने के लिये कई बार मूलकथा से हटकर पात्रों का दुरोपयोग नाटक में भी कर लेते हैं। जैसे 'आजादी बनाम गुलामी' में पगला बाबा और 'अग्ग दे बीज' में हकलाता हुआ बच्चा। परन्तु मज़े की बात तो यह है कि यह दोनों अनचाहे पात्र होने के बावजूद अपने बढ़िया अभिनय के कारण दर्शकों की प्रशंसा हासिल करते हैं। जो कि नाटककार का नहीं, बल्कि कलाकार का गुण है। रतन कलसी को पगला बाबा की भूमिका के लिए श्रेष्ठ कलाकार का पुरस्कार भी मिला था।

इसके बरअक्स डॉ. देविन्दर सिंह पंजाबी नाटक की मुख्यधारा के प्रति आरम्भ से ही सचेत रहे। उसके नाटकों के विषय वस्तु अथवा विचारधारा पर आपत्ति हो सकती है, परन्तु तकनीकी पक्ष से उसकी नाट्य–चेतना पर उंगली नहीं उठाई जा सकती। नौवें दशक में उनके दो नाटक हमारे सामने आए। पहला 'लाल पीले लोक' और दूसरा 'गरक हो रेहा मनुक्ख'। डॉ. देविन्दर सिंह 'गरक हो रेहा मनुक्ख' को थियेटर ऑफ क्रूअल्टी का नाटक कहता है। हालांकि पांच वर्ष बाद जब यह नाटक पुनः मुश्ताक कॉक द्वारा निर्देशित होकर मंचित हुआ तो देविन्दर सिंह ने इसे पड़यथार्थवादी (Surrealistic) नाटक कहा था। डॉ. सुरजीत सिंह सेठी एंतोनिन आर्तो के 'थियेटर ऑफ क्रूअल्टी' को पंजाबी में जुल्म का थियेटर कहने के स्थान

पर 'हंगामी थियेटर' कहते हैं।[10] क्योंकि यह शैली दर्शक और अभिनेता के मन में एक हंगामा पैदा करती है। बेचैनी, झटका, तीक्ष्णता, भड़काहट, उक्साहट, हलचल, खलबली, सदमा, आदि उत्तेजक क्रियाएं इसके विशेष लक्षण हैं। इस संबंध में एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि 'थियेटर ऑफ क्रूअल्टी' नाटक लिखने की कोई विशेष शैली नहीं बल्कि केवल एक निर्देशन शैली है। रतन कलसी के निर्देशन में खेला गया यह नाटक मंच पर किसी प्रकार का भी हंगामा अथवा हंगामी स्थितियां पैदा नहीं कर सका। इसीलिए यह निर्देशक का नाटक बनने के स्थान पर लेखक का नाटक बनकर रह गया और इसी कारण 'थियेटर ऑफ क्रुअल्टी' का भाव सिमट कर केवल इतना ही रह गया कि मंच पर गिद्धों द्वारा जीवित मानव को घेर कर चौंचे मार-मार कर एक वहशी क्रूअल दृश्य बार-बार उत्पन्न कर दिया जाए। इसमें चाहिए तो यह था, कि नाटक के अभिनेता की भावना संचारात्मक बिंब का रूप धारण करती, परन्तु यहां अभिनेता के सत्य की परख उसकी व्यक्तिगत भावना की प्रामाणिकता से हुई-इसको हम आर्तों की नहीं, बल्कि स्तानिस्लाव्स्की की निर्देशन शैली कह सकते हैं। ब्रैख्त ने भावनाओं (Emotions) को घटाकर विचार पर जोर दिया। ऐक्टर को मनोवेगों पर नियंत्रण करना सिखाया जो कि स्तानिस्लाव्स्की के Total involvement वाली विधि में कठिन है। इस नाटक के मंचन में बहुत-सी तकनीकी तथा संवाद प्रस्तुति में भूलने की गल्तियों के कारण भी नाटक सफल नहीं रहा। दरअसल, यह नाटक Loud Treatment की मांग करता था, जबकि अभिनेताओं ने अपनी भूमिका को Underplay निभा कर सारा प्रभाव ही हल्का कर दिया। सत्ताधारी पात्र ''शाही भेस'' को राजाओं वाली वेशभूषा में प्रस्तुत करना और उसके सलाहकार 'काले भेस' को आधुनिक भारतीय मंत्रियों वाला खद्दर का कुरता पायजामा और सफैद टोपी पहनाना भी निर्देशक के नाटकीय ज्ञान की कमी को दर्शाता है। इसके बरअक्स डॉ. देविन्दर सिंह का लिखा-निर्देशित नाटक 'लाल-पीले लोक' मंचन की दृष्टि से अधिक सफल कहा जा सकता है। पात्रों के जीवंत अभिनय, योग्य मंच-सज्जा, रोशनियों का सही प्रयोग और मंजे हुए निर्देशन के चलते यह नाटक अपनी प्रस्तुति में अधिक सफल रहा। हालांकि इन दोनों नाटकों के विषय वस्तु में कोई विशेष अंतर नज़र नहीं आता। दोनों नाटक राजनैतिक स्थितियों, कारणों, उद्देश्यों एवं परिणामों के साथ संबंधित हैं। दोनों नाटकों में आम लोगों की समस्याओं का राजनीतिज्ञों द्वारा हल न होना निहित है। दोनों में एक शासक के सत्ता से हटने अथवा हटाए जाने की प्रतीक्षा में दूसरा राजनीतिक तैयार बैठा है कि कब पहला हटे और वह उसका स्थान ले सके। फर्क केवल इतना है कि 'लाल पीले लोक' में ब्यूरोक्रेसी स्पष्ट रूप में उभर कर सामने नहीं आती,

जबकि 'गरक हो रेहा मनुक्ख' में देविन्दर सिंह ने 'गिद्धों' द्वारा ब्यूरोक्रेटों का मंचीय बिम्ब सृजित किया है। यहां शासक अपने बचाव के लिए ब्यूरोक्रेसी की एक ऐसी मज़बूत दीवार तैयार करता है, जो सत्ता की शह पर आमजनता को गिद्धों की भांति नोच-नोच कर खा जाती है। परन्तु जब आम लोगों में समुचित व्यवस्था के विरोध में रोष उपजता है तो शासक एकाएक घबराकर अफसरशाही के अधिकार सीमित कर देता है और उनको जीवित मनुष्यों के स्थान पर मुर्दार खाने का हुक्म देता है। परन्तु गिद्धों को ताज़े लहू का स्वाद लग चुका है। वह अपने अधिकार किसी कीमत पर भी घटाने के लिए तैयार नहीं होते और अंत में शासक स्वयं अपने ही ब्यूरोक्रेटों का शिकार बन जाता है।

कसाली के नाटकों में भी देविन्दर सिंह के नाटकों की तरह ही भ्रष्टाचार, मूल्यों का संकट और राजनीतिक ध्रुवीकरण आदि की अभिव्यक्ति हुई है, परन्तु देविन्द्र सिंह के नाटक अधिक सफल इसलिए हुए क्योंकि तकनीकी तौर पर यह अधिक परिपक्व थे।

कृपाल सिंह नाटक लिखते हुए विषय-वस्तु को तो गंभीरता से लेता है, परन्तु रूप की और ध्यान नहीं देता। फिर भी जम्मू में पंजाबी के न केवल अधिक नाटक लिखकर, बल्कि अधिक नाट्य प्रस्तुतियों के चलते वह सर्वोच्च स्थान पर है।

देविन्दर सिंह और कसाली के इलावा जो पंजाबी नाटक निर्देशक इस अरसे में हमारे सामने आए, वे हैं-रतन कलसी, सुशील शर्मा, मदन रंगीला, विक्रमजीत, सी परवाना, टी. एस. प्रेमी, शमशेर सिंह चौहालवी, सतविन्दर कौर, कुमार अ. भारती, अनिल जेतली, विजय भारद्वाज, अरविन्दर सिंह अमन, अमनदीप और इस परचे का लेखक इत्यादि। पिछले डेढ़ दशक में जहां दर्जन-भर नाटक निर्देशक उभरे वहीं साथ ही बहुत से मंच कलाकार भी उभरकर सामने आए। कृपाल सिंह कसाली ने पंजाबी लेखक सभा की ओर से आयोजित सम्मान समारोह में 'बलराज साहनी पंजाबी रंगमंच' की ओर से ढाई सौ कलाकारों को सामने लाने का दावा किया था, परन्तु पंजाबी नाट्य-मंडलियों के साथ कोई 40-50 कलाकार ही टिके हुए हैं, बाकी दूसरी भाषाओं की नाट्य मंडलियों में शामिल हो गए। फिर भी मदन रंगीला, रतन कलसी, कुमार अ. भारती, समीर मनहास, सुधीर महाजन, गुरमेल संधु, अरविन्दर सिंह अमन, अमनदीप, बलजीत सिंह रैना, अमरजीत कौर, सोनिया कौर, ललिता तपस्वी, अच्छर सिंह, दिलबाग सिंह, संतोष सांगड़ा, संतोष गिल, सतनाम कौर, ललिता सबरवाल, स्व, रमण दूबे, कृपाल सिंह कसाली, आदि कलाकारों पर रियासती पंजाबी नाटक रंगमंच गर्व कर सकता है।

दर्जन-भर नाटक निर्देशक होने के बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अधिकतर निर्देशक अभी इस तथ्य से ही अनजान हैं कि कलाकारों की कला को पूरी तरह से कैसे उभारा जा सकता है। कलाकारों का चुनाव करते समय भी निर्देशकों को बहुत से समझौते करने पड़ते हैं। कुछ मर्जी से और कुछ मजबूरी से, जिस कारण बहुत से नाटक अकुशल अभिनेता/अभिनेत्री चुनाव के शिकार भी होते हैं। परन्तु इसके बावजूद उन अभिनेताओं को कुशल कैसे बनाया जा सकता था, इस ओर अधिकतर निर्देशकों का ध्यान बहुत कम ही गया। इस लेख के लेखक ने जब 'कब्रिस्तान' प्रस्तुत किया तो इसी प्रकार की कमज़ोरियों का शिकार हो गया। हालांकि लेखक द्वारा देविन्द्र दमन के लिखे नाटक 'बलदे जंगल दे रूक्ख' के निर्देशन को बहुत पसंद किया गया था। निर्देशकों की इन्हीं कमजोरियों के चलते कलाकारों की कला को उभारने में मंचीय शिल्प का सही उपयोग नहीं हो पाया। हम यह नहीं कहते कि रंगमंच पर अभिनेता अपनी भूमिका को जीने के स्थान पर शिल्प द्वारा कृत्रिम कला को उभारे, पर चूंकि हमारे पास चरित्र में डूब कर पात्र को मंच पर जीने वाले कलाकार गिनती के ही हैं इसलिए हमें कलाकारों से काम लेते हुए मंचीय शिल्प का सहारा लेना ही पड़ता है।

मदन रंगीला नाटक निर्देशन में जहां ''बाबुल दा वेहड़ा'' और ''हिन्दोस्तान'' नाटकों में तो अधिक सफल नहीं रहा, परन्तु 'रब्ब दी बैठक विच' और 'बाबा बन्तु' उसके नाटक निर्देशक के उत्तम नमूने पेश करते थे। शमशेर चोहालवी का 'असली धन' जहां दहेज जैसी सामाजिक बीमारी के खिलाफ़ आवाज़ उठाता है, वहीं उजागर सिंह महक का 'सूही प्रभात' परिवारों में छोटी-छोटी बातों से पड़ने वाली खाइयों की ओर संकेत करता है। दोनों परम्परावादी, आदर्शवादी सामाजिक नाटक हैं। विक्रमजीत का 'बाबुल दा वेह्ड़ा' भी इसी कड़ी में सम्मिलित है।

हां, विक्रमजीत 'कुदरत दे सब बंदे' नाटक में न केवल निर्देशन बल्कि उद्देश्य में भी सफल रहा है। यह नाट्क साम्प्रदायिक सौहार्द्ध पर बल देता है।

पिछले तीन दशक के मंचित सभी पंजाबी नाटकों के बारे में इस लेख में बात नहीं की जा सकी है, पर लेख के अंत में सभी मंचित नाटकों की सूची अवश्य दी जा रही है। हां, इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि जम्मू-कश्मीर में अभी तक पंजाबी काव्य-नाटक अथवा नाटक-काव्य नहीं लिखा गया, जबकि रियासत की लोक-कथाओं एवं लोक-गीतों में ऐतिहासिक नायक/नायिकाओं का समृद्ध विरसा है।

संदर्भ सूची

1. *अमरीक सिंह-जम्मू खेतर विच पंजाबी लोकनाट कला अते पंजाबी रंगमंच/शीराज़ा पंजाबी/ Vol. 17, No. 4/ पृष्ठ : 53*
2. *दीदार सिंह-'पंजाबी नाटक ते रंगमंच दे पंजी साल'। शीराज़ा पंजाबी Vol.1 No. 2/ पृष्ठ 27*
3. *डॉ. भुपिंदर सिंह सूदन-'जम्मू कश्मीर विच पंजाबी नाटक'/सिक्ख संदेश/जून 1985 अंक*
4. *Alexander Herzen—People's thertre from the box office to the stage– Written by Mike Davidow/ Progress Publisher Moscow, P : 15.*
5. *A dialogue from Maxim Gorki classic 'The Philistines'–Vassily Vassiligar–reffrence from Mike Davidow's book mentioned above in point 4/ P: 115.*
6. *डॉ. भुपिन्दर सिंह सूदन-'जम्मू कश्मीर विच पंजाबी नाटक'/सिक्ख संदेश/जून-जुलाई, 1985 अंक*
7. *डॉ. हरचरण सिंह पंजाबी दुनिया/मार्च-मई, 1975/पन्ने 99-100.*
8. *Ionesco, Engene–Notes and Counter Notes (1964) No. 1, Grove Press/P : 244.*
9. *डॉ. कुलबीर सिंह कांग-'पंजाबी नाटक उते प्रगतिवाद दा प्रभाव/शीराज़ा पंजाबी/ Vol. 10, No. 2/ पृष्ठ : 3*
10. *डॉ. सुरजीत सिंह सेठी-सृजणात्मक नाटक निर्देशन/पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाबी युनिवर्सिटी पटियाला/पृष्ठ: 111.*

जम्मू-कश्मीर में 1975 से रंगमंच पर मंचित पंजाबी नाटकों की सूची

सं नः	नाटक का शीर्षक	लेखक	निर्देशन	प्रथम मंचन
1.	शीश महल	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1975
2.	भुक्ख	ओ. पी. शर्मा सारथी	सारथी	1976
3.	नाटककार	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1977
4.	डॉक्टर	ओ. पी. शर्मा सारथी	सारथी	1978
5.	एह् लहू किस दा है	गुरशरण सिंह	सुजान सिंह	1978
6.	नंगा मनुक्ख	गुरशरण सिंह	सुभाष कौल	1979
7.	घुम्मण घेरी	गुरशरण सिंह	सुभाष कौल	1979
8.	अन्ने-काणे	आत्मजीत	नूर उल कुरैशी	1979
9.	रब्ब दी शामत	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1979
10.	इतिहास नहीं मरदा	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1979
11.	एह् लोक	सुशील शर्मा	सुशील शर्मा	1979
12.	पुआड़ा स्वैटर दा	सुशील शर्मा	सुशील शर्मा	1980
13.	मौज बणज़ारा लै गया	सुशील शर्मा	सुशील शर्मा	1980
14.	पृथ्वी सिंह राठौर	??	शमशेर चौहालवी	1980
15.	क़ातिल	??	शमशेर चौहालवी	1981

16.	रोटी	??	शमशेर चौहालवी	1981
17.	रत्ता सालु	हरचरण सिंह	क. स. कसाली	1981
18.	आज़ादी बनाम गुलामी	क.स. कसाली	क.स. कसाली	1982
19.	कानून किथ्थे	सुशील शर्मा	सुशील शर्मा	1982
20.	सच की है	क. स. कसाली	रतन कलसी	1983
21.	सरहद्दां	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1983
22.	लाल पीले लोक	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1983
23.	कुदरत दे सब बंदे	विक्रमजीत	विक्रमजीत	1983
24.	भुक्ख ही भुक्ख	क. स. कसाली	रतन कलसी	1984
25.	नाटक नहीं मुकेया	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1984
26.	असली धन	शमशेर चौहालवी	श. चौहालवी	1984
27.	बाबा जित्तो	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1984
28.	अग्ग दे बीज	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1985
29.	बाबुल दा वेहड़ा	विक्रमजीत	मदन रंगीला	1985
30.	निक्के निक्के घेरे	श. चौहालवी	श. चौहालवी	1985
31.	असीं वी हैगे आं	महमूद अहमद	सी. परवाना	1986
32.	रिश्तेयां दा की रखीए नां	आत्मजीत	क. स. कसाली	1986
33.	रोसा घर-घर दा	श. चौहालवी	श. चौहालवी	1986
34.	रब्ब दी बैठक विच	विश्वनागरिक	मदन रंगीला	1987
35.	सूही प्रभात	उजागर सिंह महक	सी. परवाना	1987
36.	मच्छियां	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1988
37.	अम्बियां नूं तरसेंगी	चरणदास सिधु	क. स. कसाली	1988
38.	तेरा भाणा मीठा लागे	पांधी ननकाणवी	टी. एस. प्रेमी	1988
39.	नानक नाम समालि तूं	गुरदयाल सिंह	टी. एस. प्रेमी	1988
40.	पंजाब दी आवाज़	बलदेव सिंह	रतन कलसी	1988
41.	कर्फयू	गुरशरण सिंह	रतन कलसी	1988
42.	बलदे जंगल दे रुक्ख	देविंदर दमन	ब. स. रैना	1988
43.	निर्धन को पाले	म. स. रैना	टी. एस. प्रेमी	1988
44.	इक्क हीरो दी तलाश	??	सतीश	1989
45.	पृष्ठ भूमि	बलजीत रैना	बलजीत रैना	1989
46.	टोआ	गुरशरण सिंह	रतन कलसी	1989
47.	अजीत राम	आत्मजीत	अरविंदर अमन	1990
48.	असीं नाटक नहीं करदे	हरभजन सिंह अव्वल	अरविंदर अमन	1990
49.	विश्वविद्यालय दर्शन	देविन्दर सिंह	देविन्दर सिंह	1990
50.	हिन्दोस्तान	बिक्रमजीत	मदन रंगीला	1990
51.	बाबा बंतू	चरणदास सिधु	मदन रंगीला	1990
52.	कब्रिस्तान	आत्मजीत	बलजीत रैना	1990
53.	बगाने बोहड़ दी छां	अजमेर औलख	क. स. कसाली	1991

54.	मैं नहीं वसांगा तेरे शहर	क. स. कसाली	क. स. कसाली	1991
55.	गानी	अजमेर औलख	टी. एस. प्रेमी	1991
56.	हल्ला बोल	सफदर हाशमी	विक्रमजीत	1991
57.	हवेली वाली जट्टी	हरबंस कौर	टी. एस. प्रेमी	1991
58.	मन्नू दी मार	बलजीत रैना	बलजीत रैना	1991
59.	गरक हो रेहा मनुक्ख	देविन्दर सिंह	रतन कलसी	1992
60.	लावारिस	शमशेर चौहालवी	विक्रमजीत	1992
61.	मुसल्ली	इसहाक मोहमद	क. स. कसाली	1992
62.	खुसरे	जगदीश सचदेवा	अरविन्दर अमर	1992
63.	ग्रेजुएट कुत्ता	??	अरविन्दर अमर	1992
64.	रावण वध	अरविंदर सिंह अमन	अरविन्दर अमर	1993
65.	फासले	जतिन्दर बराड़	टी. एस. प्रेमी	1993
66.	जादूगर	बलजीत रैना	बलजीत रैना	1993
67.	लम्मे समें दा नर्क	हरचरण सिंह	टी. एस. प्रेमी	1993
68.	हत्यारे	??	अनिल जेतली	1994
69.	हंजुआ दा सागर	अच्छर सिंह	अच्छर सिंह	1994
70.	मां-पुत्तर	भाग सिंह	टी. एस. प्रेमी	1994
71.	शरीक	देविन्दर धंजल	क. स. कसाली	1995
72.	हाए नी धीए मोरनीए	??	क. स. कसाली	1995
73.	पागल लोक	कपूर सिंह घुम्मण	टी. एस. प्रेमी	1995
74.	उजड़े आह्लणे दे पंछी	बलजीत रैना	बलजीत रैना	1995
75.	शिकंजा	देविन्दर धंजल	क. स. कसाली	1996
76.	भज्झियां बाहीं	अजमेर औलख	क. स. कसाली	1996
77.	अग ही अग	देविन्दर धंजल	क. स. कसाली	1996
78.	धुंधुकारा	टी. एस. प्रेमी	टी. एस. प्रेमी	1996
79.	मंज़िलां ते रस्ते	बलजीत रैना	बलजीत रैना	1997
80.	अपहरण भाईचारे दा	सफदर हाशमी	टी. एस. प्रेमी	1998
81.	शहर बीमार है	आत्मजीत	टी. एस. प्रेमी	1999
82.	पूरन	आत्मजीत	बलजीत रैना	2000
83.	प्रदूषण	कु. रश्मि	टी. एस. प्रेमी	2001
84.	शहर विच उगेया रुख	टी. एस. प्रेमी	टी. एस. प्रेमी	2002
85.	उजली बसती उजले लोक	रंक आहियापुरी	टी. एस. प्रेमी	2003
86.	गरीब दास	जतिंदर बराड़	टी. एस. प्रेमी	2004
87.	नच्चांगी सारी रात	क. स. कसाली	क. स. कसाली	2004
88.	कंडेयाली तार	क. स. कसाली	क. स. कसाली	2005
89.	समझौता	??	क. स. कसाली	2005
90.	हरयाली	सतपाल रेणा	टी. एस. प्रेमी	2005
91.	सच सुहेला सच की बेला	च. द. सिंधड़ा	टी. एस. प्रेमी	2006

92.	लालटैन	विजय सुमन सोसन	मोहन मिस्त्री	2006
93.	टोआ	गुरशरण सिंह	अरविंदर सिंह 'अमन'	
94.	नायक	''	''	
95.	तेल बचाओ, देश बचाओ	अमनदीप	देविन्दर सिंह अरविंदर सिंह 'अमन'	
96.	यूनिवर्सिटी दर्शन	प्रो. देविन्दर सिंह	अरविंदर सिंह 'अमन'	

*इन पंजाबी नाटकों को दूसरे निर्देशकों ने भी समय-समय पर मंचित किया है।

नोट :

इस सूची में कुछ और नाटकों के शीर्षक भी जुड़ सकते है, जिनकी मुझे जानकारी न मिली हो।

ooo

जम्मू-कश्मीर का पंजाबी नाटक : एक जायज़ा

❑ मूल : इच्छुपाल
अनु : नीरू शर्मा

नाटक को दैविक खेल का अनुकरण कहा गया है और यह अनुकरण जीवन का मुख्य कार्य बनकर पूरा हुआ है। मुल्ख राज आनंद के अनुसार नाटक गांव में हिंदू-मुसलमान दोनों के मेले-उत्सवों आदि पर खेले जाते थे। लोक-नाटक नौटंकी और रास के रूप में ही जीवित रहा।[1] पर पंजाबी में मौलिक नाटक लिखने की परंपरा का शुभारंभ बाबा बुद्धसिंह के नाटक चंद्रहरि से हुआ।[2] पंजाबी नाटककारों ने बदलती परिस्थितियों, मानव के मानसिक उलझावों, व्यक्ति के बदलते व्यवहार और कई सामाजिक समस्याओं को अपने नाटकों में उभारा है। इस लेख में रियासत जम्मू-कश्मीर में प्रकाशित नाटकों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। रियासत के पंजाबी नाटकों का इतिहास संक्षिप्त है।

पहला नाटक ''सांझा मोरचा'' विजय सुमन का शाहमुखी लिपि में सन् 1966 में प्रकाशित हुआ।[3] इस नाटक में दर्शाया गया है कि कैसे गांव के दो पक्षों के आपसी संबंध, गांव की भलाई एवं विकास की विचारधारा में रुकावट बन जाते हैं। चौधरी रामदित्ता का पुत्र बाबूराम जो इस नाटक का नायक है, उसकी सगाई कृष्णदत्त की लड़की से हुई है। कृष्णदत्त जो नंबरदार है और बाबूराम की ओर से सुझाये गये प्रस्ताव को तोड़ नहीं चढ़ने देता। वह प्रत्येक भलाई के काम में विरोध की दीवार खड़ी कर देता है। नाटककार ने नाटक के अंत में परोपकार की जीत दर्शायी है।

यह नाटक निश्चित उद्देश्य को निर्धारित करके लिखा गया है। इसमें समय की समस्या खेतीबाड़ी की स्कीम जो सफल न हो सकी, उसके प्रभाव को स्वीकारा गया है। यह नाटक पांच अंकों में विभक्त है। इस नाटक की विशेषता रंगमंच की अनुकूलता के कारण भी है।

नाटक ''लाशां दा सागर''[4] 1968 में प्रकाशित हुआ था। यह नाटक उजागर सिंह महक द्वारा रचित है। इस के बाद उजागर सिंह का ''सूही प्रभात'' 1985 में प्रकाशित हुआ।

'लाशां दा सागर'' का कथानक 1985 के हिंद-पाक युद्ध के कारण रियासत में छंब-जियोड़ियां की व्यवस्था के आगे-पीछे घूमता है। ''लाशां दा सागर'' के बाद ''सूही प्रभात'' नाटक प्रकाशित हुआ, जिसे मंचित भी किया गया। इस नाटक का कथानक घरेलू जीवन पर आधारित है। प्रतिदिन विचरने वाले पात्रों के साथ नाटककार का घनिष्ट संबंध रहा है। ''सूही प्रभात'' अपने-आप में एक परिवर्तन, रोशनी और चमत्कार का प्रतीक है। नायिका मंजीत कौर ''सूही प्रभात'' की प्रतीक है। इसी पात्र पर पूरी कहानी केंद्रित हैं। इस नाटक की नायिका संयुक्त परिवार में रहना नहीं चाहती। वह अपने पति के साथ रहना चाहती है, एक अलग घर में। इस के लिए उसके सास-ससुर तो मान जाते हैं पर उसका पति इस बात को न मानकर उसे तलाक देकर मायके भेज देता है। मंजीत के मन में तब अपने घर को प्रति आकर्षण उप्पन्न होने लगता है। जब वह अपने मायके में भाभी को अपने बुजुर्गों का आदर-सत्कार करते देखती है। नाटककार ने मंजीत कौर के मन में अपने घर में बसने की कसक पैदा करके बुजुर्गों के प्रति आदर-भाव पैदा किया है। नाटक ''सूही प्रभात'' की तरह पाठक, श्रोताओं के सामने एक नया संदेश लेकर आता है। यह नाटक संवाद शैली में तीन अंकों में बांटा गया है। नाटक का अंत कविता की निम्न पंक्ति के साथ होता है-

आ गई सूही प्रभात, झस्सो इसदे पैर
रीझां सद्दरां दी असां मंग लेई रब्ब तों खैर[5]

इस नाटक की भाषा-शैली हास्य एवं करुण रस पर आधारित एवं पात्रों के अनुकूल है। जो नाटक के शीर्षक को सफल सिद्ध करती है।

''पौह दी पुन्नेआं'' देविन्दर सिंह विश्वनागरिक के तीन नाटकों ''इज्जत दा सवाल'', पौह दी पुन्नेआं, सच्च दे रू-ब-रू का संग्रह है। ''इज्जत दा सवाल'' सैनिक आफिसरशाही की ओर से किये जा रहे शोषण पर आधारित है। इसमें खोखली कद्रो-कीमत वाली पश्चिमी सभ्यता की घिनौनी तस्वीर प्रस्तुत की गई है।

इस नाटक में सैनिक आफिसरशाही की ओर से वर्ग विशेष के शोषण की झलक दृष्टिगोचर होती है। शोषण को व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इस संग्रह का दूसरा नाटक ''पौह दी पुन्नेआं'' में एक आफिसर मंगतराम नौजवान चित्रकार के चित्र को प्रदर्शनी में रखने से इन्कार कर देता है। क्योंकि वह उसकी खुशामद नहीं करता और न ही सामाजिक व्यवस्था में आफिसरशाही से करीबी संबंध स्थापित कर पाता है। क्योंकि यह उसके ज़मीर के प्रतिकूल है। वह मात्र एक कलाकार है, एक स्वाभिमानी कलाकार। पर वही चित्र आफिसर मगोत्रा का धनी मित्र नरेश खरीद कर प्रदर्शनी में ही नहीं रखता अपितु उस चित्र पर प्रथम पुरस्कार भी प्राप्त कर लेता है। इस नाटक को सरमायादारी व्यवस्था में मानव द्वारा मानव के शोषण का विरोध मानना चाहिए। ज़िंदगी के साथ समझौता कर वह यौवन में ''पौह दी पुन्नेआं'' जैसी सर्दी मानता हुआ चांदनी को अपने बहुत करीब महसूसता है।

अगला नाटककार शमशेर सिंह चौहालवी का है। चौहालवी ने दो नाटक लिखे हैं। ''असली धन''[6] 1987 में, ''निक्के-निक्के घेरे''[7] 1992 में प्रकाशित हुआ। नाटक ''असली'' धन के पात्र प्रो. करतार सिंह और प्रीतम दोनों एक-दूसरे को कविताएं सुनाने लगते हैं। प्रो. साहब ने देसराज दानिश की कविता सुनाई और देसराज को देश कह कर संबोधित किया। इसके बाद प्रीतम को भी अपने नौजवान मित्र शमशेर चौहालवी की एक कविता सुनाई। नाटक ''असली धन'' का मुख्य विषय ये दो कविताएं ही हैं। चौहालवी ने देसराज दानिश की कविता का नाटकीकरण किया है-

नौजुआन नूं चाहिदा छड लालच
बिना दाज दे करन मंजूर शादी
देंदी जिंदगी दा तद सरूर शादी[8]

नाटक की कहानी का मूल उद्देश्य कविता का यही बंद है कि युवकों को दहेज के बिना शादी करनी चाहिए। बिना दहेज शादी करने के लिए सर्वप्रथम कुलदीप सामने आता है। वह अपनी माँ प्रतापी और ठेकेदार बाप कृष्ण सिंह को भी मना लेता है। फिर भी कुलदीप की पत्नी हरजीत (जीती) के गृहप्रवेश करते ही परिवार में दहेज के नाम पर बहुत विवाद होता है। प्रतापी अपने समधी के लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करती है। जीती को घर से निकाल दिया जाता है। मायके जाते ही उनका व्यापार ठप्प हो जाता है। कुलदीप (जीती का पति) दूसरा विवाह नहीं करता। मीता (कुलदीप की बहन) के लिए चुना हुआ नौजवान दहेज न लेने का निर्णय करता है और इसके लिए वह अपने माँ-बाप को भी मना लेता है। कुलदीप के माँ-बाप इसलिए चिंतित हैं कि एक तो कुलदीप दूसरे विवाह के लिए तैयार नहीं था और दूसरा जीती

का भी कोई पता-ठिकाना मालूम नहीं था। ताकि वे उसे मनाकर घर वापिस ले आते। इसलिए उनके सामने केवल गुरु के सामने अरदास करने के सिवा और कोई चारा नहीं बचता था। एक दिन सबकी अरदास पूरी हो जाती है और सारे पात्र बाप-बेटी, सास-बहू, पति-पत्नी, ननद-भाभी, दोस्त और उसकी पत्नी, गरीब-अमीर, सभी एक हो जाते हैं। प्रीतम कविता की पंक्तियां पढ़ता है-

किसे गरीब कमजोर 'शमशेर' दी फिर
खातर दाज दे धी नहीं मरन लगी।

इस तरह दानिश की कविता का नौजवान पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। जो नाटक के मंतव्य को पूरा करता है।

डॉ. देविन्दर सिंह जी का नाटक "गरक हो रेहा मनुक्ख",[9] 1992 में और "लाल-पीले लोग" 19.... में प्रकाशित हुआ। नाटक "गरक हो रेहा मनुक्ख" दे कथानक का केंद्रिय विषय समकालीन राजनीति के प्रति लोगों का विरोध और वास्तविक आधार उनका स्वार्थ ही है। नेता वर्ग की सोच केवल मात्र अपने तक ही सीमित होती है। इसी के आधार पर वह अपने निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी सीमा तक उसका इस्तेमाल कर सकता है। राजनैतिक नेताओं की चालें, दल-बदल, सौदेव्राजी एवं प्रत्येक निम्नकोटि के काम को अपने मंतव्य के लिए इस्तेमाल करना और हर क्षेत्र में लगी विक्री पर एक अजीब-सी राजनैतिक स्थिति तक पहुँच जाते हैं। देविन्दर सिंह जी ने इन स्थितियों की बारीकियों को अपने नाटक में दर्शाया है। डॉ. सतीश कुमार वर्मा के अनुसार "एक आजाद देश के लोकराजी ढांचे में कैसे प्रत्येक जिम्मेदार व्यक्ति अपने कर्तव्य से दूर हो कर अपने सीनियर्स की जी-हुजूरी करता है यह व्यक्तिगत लालच और भ्रष्टाचार का एक अंग बन चुका है।"[11]

नाटककार ने अपने नाटक को गीदों की अपनी परंपरागत खुराक जानवरों का मुरदार खाने के दृश्य से शुरू किया है। पर नेता इन गीदों को मरे हुए पशुओं के स्थान पर मानवी मुरदार खाने को देते हैं। गीदें यह बात भली-भांति जानती हैं कि मानव अपने हित के लिए दूसरों का शोषण करता है। गीदें मानव को धिक्कारती हैं और उन्हें वे नीच, विश्वासघाती, क्रूर, खून चूसने वाले कहती हैं। वे मानव में स्वतः ही आई हुई गिरावट को प्रकट करते हुए मानवी मांस खाने से इन्कार कर देती हैं। क्योंकि वे मानवी मांस खाकर अपनी नसल को भ्रश्ट नहीं करना चाहतीं। धीरे-धीरे उन्हें मानवी मांस का आनंद आने लगता है। यह नाटक मानव चरित्र की गिरावट और विभिन्न पहलुओं को उभारता है।

नाटक में संघर्षरत बागी और गरीब पात्र बोलते हैं। नाटककार ने अपने नाटक में दर्शाया है कि सरमायादारी का अंत जरूरी है। यह नाटक पाठक एवं दर्शकों के मन पर घृणा और निराशा के भाव छोड़ जाता है।

सुशील शर्मा ने बहुत से नाटक लिखे हैं। उनमें से ''एह् लोक''[12] इनका एक प्रमुख एकांकी है। यह नाटक पुलिस विभाग में फैले भ्रश्टाचार को सामने लाता है। इस नाटक में सुशील शर्मा ने सुंदर अंदाज़ में पुलिस थाने का चित्रण किया है। नाटक में चुस्त एवं सटीक संवाद इस एकांकी की सफलता का कारण हैं। इन्हीं के माध्यम से रोचकता बनी रहती है। नि:संदेह सुशील ने सामाजिक वातावरण की स्थिति को घटनाओं के माध्यम से सुचारू ढंग से प्रस्तुत किया है। यह नाटक सराहनीय है।

कृपाल सिंह कसाली नाटककार के साथ-साथ पंजाबी रंग-मंच के लिए पूर्णतया समर्पित एक हस्ताक्षर है। वह निर्देशक एवं सूझवान अभिनेता भी है। 1982 में कसाली ''अज़ादी बनाम गुलामी'' को मंचित करके एक नाटककार से निर्देशक एवं अभिनेता बन दर्शकों के समक्ष आये। ''सरहद्दां'' इनकी 1986 में प्रकाशित पहली पुस्तक में तीन नाटक हैं। ''सरहद्दां'', ''सच की है,'' ''अजादी बनाम गुलामी'' ये सारे नाटक मंचित हो चुके हैं।

''सरहद्दां'' नाटक को 1983 में कृपाल सिंह कसाली ने अपने निर्देशन में मंचित किया। यह नाटक एक गांव के निवासी कार्यमुक्त फौजी के परिवार और भ्रष्ट सरपंच के इर्द-गिर्द घूमता है। नाटक में बाहरी सीमा के साथ-साथ राजनैतिक भ्रश्टाचार की लड़ाई, वर्ग संघर्ष द्वारा भीतरी सामाजिक सीमाओं की निशानदेही की गई है। नाटककार ने दो पात्रों मक्खनां और धरमां शराबी द्वारा सरपंच की काली करतूतों को नंगा किया है। पुलिस अधिकारी व सरपंच के चरित्रों को नाटक में उभारा गया है।

नाटककार विक्रमजीत का पहला नाटक ''कुदरत के सब बंदे'' 1983 में प्रकाशित हुआ। ''मैं हिंदोस्तान हां'' को 1992 में प्रकाशित कर पंजाबी माँ की गोद में डाला। इस नाटक का कथानक यूं है-

1947 में देश स्वतंत्र हुआ और स्वतंत्रता के बाद अभी तक भूख, फिरका-परस्ती और मासूमों को प्रताड़ना सहनी पड़ रही है। देश को स्वतंत्र कराना गर्व की बात है। वहाँ जब देशवासी यह कहें - ''इस आजादी से गुलामी अच्छी थी।'' तो यह बड़े दु:ख की बात है।

अपने नाटक में नाटककार ने भ्रष्टाचार, घूसखोरी और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई असफलताओं को उजागर किया है। नाटककार सीधे स्पष्ट शब्दों में कहता है, अगर इस निज़ाम में ऐसे ही मनमर्जी और ज़बरदस्ती चलती रही तो वह दिन दूर नहीं जब पिछड़े और प्रताड़ित लोग एकजुट होकर अपने अधिकारों के लिए लड़ेंगे। विक्रमजीत ने इस नाटक में दो मंतव्य पाठकों एवं दर्शकों के सामने रखे हैं। ऐसी दशा का जिम्मेदार कौन है? दूसरा इसके मूल तक पहुंच कर सुधार कैसे किया जाए?

बीकम सिंह राही का एकांकी संग्रह 'निरादरी' 1975 में प्रकाशित हुआ। इस में पांच एकांकी हैं। राही अपने इन एकांकियों में समाज में प्रचलित बुराइयों को दिखा कर उन्हें दूर करने का विचार प्रकट क़रता है। जिसमें बेमेल विवाह, दहेज का विरोध एवं अमीर-गरीब के बीच की दूरी, विद्यार्थियों में भ्रष्टाचार आदि समस्याओं को उभारा है।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि नाटक के क्षेत्र में रियास्त में हो रहे, विभिन्न प्रयोगों से इसका विकास हुआ और दूसरी ओर नये रुझान भी सामने आए हैं। हम नाटक के क्षेत्र में पीढ़ियों का निर्धारण नहीं कर सकते। हाँ! पर समूचे पंजाबी नाटक जगत में नये नाटककार पुरानी पीढ़ी को आगे बढ़ाते हुए नये विषयों को नये रूप में प्रस्तुत करेंगे आज के समय में समकालिक पंजाबी नाटक की स्थिति अदीम नाटक रचना में आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, मानवी रिश्तों के अंदर की टूटन, औरत़ की मानसिक स्थिति, दलितवर्ग की समस्यायें बगैरा हैं।

रियासत के नाटककारों ने समूचे नाटक के प्रसंग में बढ़ौत्तरी की है। प्रश्न उठता है कि उपरोक्त नाटकों, प्रस्तुत किये गये जायज़े में जिन बातों को उभारा गया है, उससे भी आगे कोई बात है। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हम रियासत के नाटककारों से अपेक्षा रखते हैं। ताकि नाट्य साहित्य दिन-ब-दिन उन्नति की ओर अग्रसर होता जाए और पाठक एवं दर्शकों की गणना भी बढ़ती जाए।

संदर्भ सूची

1. पंजाबी नाटक दा जनम ते आई. सी. नंदा (साहित्य समाचार आई. सी. नंदा अंक पृष्ठ 74) : गुरदयाल सिंह 'फुल्ल'
2. पंजाबी नाटक आलोचना (पृष्ठ 90) : भूपाल दास
3. जम्मू-कश्मीर बिच्च पंजाबी भाषा ते साहित्य, (पृष्ठ 146) : प्रो. सेवा सिंह
4. लाशां दा सागर : उजागर सिंह 'महक'
5. सूही प्रभात (पृष्ठ 56) : उजागर सिंह 'महक'
6. असली धन : शमशेर सिंह चौहालवी
7. निक्के-निक्के घेरे : शमशेर सिंह चौहालवी
8. असली धन, पृष्ठ 40 : शमशेर सिंह चौहालवी
9. गरक हो रेहा मनुक्ख : डॉ० देवेन्द्र सिंह
10. लाल पीले लोग : डॉ० देवेन्द्र सिंह
11. देविन्दर सिंह दे नाटक, गरक हो रेहा मनुक्ख दा निकट अध्ययन (प्रवचन सितम्बर, जुलाई-2003) : डॉ० सतीश कुमार वर्मा
12. एह् लोक ते होर एकांगी : डॉ० सुशील शर्मा
13. सरहद्दां, 1986 : कृपाल सिंह कसाली
14. कुदरत दे सब बंदे (1983) : विक्रमजीत
15. मैं हिंदोस्तान हा, 1992 : विक्रमजीत
16. बिरादरी 1975 : बीकम सिंह राही

०००

जम्मू व कश्मीर में उर्दू नाटक - एक जायज़ा

❑ मूल : डॉ. मुहम्मद असदुल्लाह वानी

अनु : अज़रा चौधरी

जब हम जम्मू व कश्मीर के उर्दू भाषा में लिखित साहित्य की विभिन्न विधाओं के प्रारम्भ एवं विकास का अवलोकन करते हैं तो यह सच्चाई खुल कर हमारे सामने आ जाती है कि दूसरी विधाओं की अपेक्षा ड्रामा यानि नाटक की आयु अधिक लम्बी नहीं है। मगर इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि बर्रे सगीर हिन्द-पाक के जिन इलाकों में उर्दू ने अपने कदम जमाए हैं, वहाँ नाटक की परम्परा किसी-न-किसी रूप में पहले से ही विद्यमान थी।

रियासत जम्मू-कश्मीर में उर्दू नाटक की आयु आज़ादी के आस-पास ही आंकी जा सकती है लेकिन इसकी परंपरा यहाँ जिस सूरत में मौजूद थी वह बीज रूप में सामूहिक तौर पर खेले जाने वाले उर्दू ड्रामों में अपना एक विशेष एवं प्रमुख स्थान रखती है। इस परंपरा को यहां जीवित रखने तथा इसकी उन्नति में पेशावर कलाकारों और नक्कालों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन्हें 'भांड' कहा जाता था। भांडों के बारे में मुल्ला ग़नीमत काश्मीरी ने अपनी मसनवी "नए रंगे इश्क" में कुछ इस तरह उल्लेख किया है, "यह पेशावर भांड शहंशाह आलमगीर के अहद-ए-सल्तनत में गाने-बजाने और नकलें करने का पेशा करते थे। यह ताइफे अमूमन बाजारों में घूमते-फिरते और दुकानों के सामने या बाजारों के चौक में नकलें किया करते। राहगीर तामाशाई उनके गिर्द जमा हो जाते और तमाशा के इख्तिताम पर एक-एक पैसा, दो-दो पैसे दे कर उनका हक्के-खिदमत अदा करते। इस तरह यह लोग अपनी रोजी कमाते।"[1]

पंडित रत्ननाथ सरशार ने अपनी रचना "फसाना-ए-आज़ाद" में इन नक्कालों को "भगत बाज़"[2] का नाम दिया है। जिन के परिवार अधिकतर कश्मीर से आते थे जो नक्काली में कमाल और चुटकलेबाजी में विशेष महारत रखते थे।

इनके रूप-बहरूप बदलने, करतब दिखाने और नकलें उतारने के तरीकों में नाटकीय तौर-तरीके पाए जाते थे। कहना गल्त न होगा कि यह नक़ाल और भांड जो भगत बाज़ कहलाते थे मूलतः कश्मीरी थे और उनके अस्तित्व की जड़ें आज तक कश्मीर के चौगिर्द जुड़ी हुई हैं। यह लोग वास्तव में मसख़रे हैं। जिन्हें कश्मीरी भाषा में ''भांड'' कहते हैं और यह वर्ग जिस तरह की नक़ाली का पेशा अपनाए हुए हैं उसे ''पाथर'' कहते हैं। इस का अर्थ है किसी की नकल उतारना। संक्षेप में कहें तो ''भांड'' या ''भांड पाथर'' कश्मीर में एक प्रकार की नाटक की लोकप्रिय परंपरा का नाम है। जिसका उद्देश्य व्यंग्य के माध्यम से लोगों का मनोरंजन करना है। प्राचीन काल में यह कश्मीर का एक चलता-फिरता मंच (स्टेज) हुआ करता था जो गली-मुहल्ले में कहीं भी, किसी भी स्थान पर अपना प्रोग्राम प्रस्तुत कर सकता था और कर सकता है। आजकल इसमें थोड़ा-बहुत फेरबदल करके तथा आधुनिकता का पुट देकर और अधिक मनोरंजक बनाने की कोशिश की गई है।

कश्मीर में नाटक की प्राचीन परंपरा के अतिरिक्त नृत्य की महफिलों का उल्लेख भी मिलता है। कल्हण की राजतरंगिणी में इन्द्रप्रभा नाम की एक प्रसिद्ध नृत्यांगना का विशेष तौर पर उल्लेख मिलता है। इसके इलावा बडशाह के राज्यकाल में ऐतिहासिक पुस्तकों में जोध भट्ट तथा सोम भट्ट के संजीदा नाटकों का हवाला भी मिलता है। जहाँ तक जम्मू का संबंध है वहाँ ''कारक'' की सूरत में यह परंपरा मौजूद थी जिसमें हमें नाटकीय अंश का आभास होता है। इसके अतिरिक्त ''राम लीला'' की शुरुआत भी ड्रामा की ही एक कड़ी है जिसे लोगों की सरपरस्ती हासिल थी और आज भी है।

महाराजा प्रताप सिंह के शासनकाल में जम्मू-कश्मीर में कुछ विशेष परिवर्तन किए गए। एक तो यहाँ उर्दू भाषा ने अपना प्रभुत्व स्थापित करना शुरू किया। दूसरे रियासत में दूसरे राज्यों से विशेष तौर पर रासलीला पार्टियों का आगमन हुआ। इन मंडलियों का उद्देश्य लोगों में धार्मिक सौहार्द पैदा करना था। इसलिए वे धार्मिक किस्सों को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करके जीविका कमाने के साथ-साथ अपना धार्मिक कर्त्तव्य भी निभाते थे। समय गुजरने के साथ धर्म के अतिरिक्त सामाजिक एवं अन्य विषयों को आधार बनाकर नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा। और आहिस्ता-आहिस्ता ड्रामा धर्म की परिधि से मुक्त होने लगा। इसी काल में जम्मू-कश्मीर में उर्दू ड्रामा की शुरुआत हुई। जिसमें थियेटर कंपनियों का प्रमुख योगदान रहा है। इन कंपनियों के लिए आग़ा हशर काश्मीरी, बेताब बनारसी,

मास्टर रहमत अली, तालिब बनारसी और एहसन लखनवीं ने मिलकर ड्रामे लिखे। जिन्होंने डॉ. बृज प्रेमी के अनुसार, ''हिंदोस्तानी थियेटर में तहलका मचाया था।'' इस दौर में जम्मू-कश्मीर की थियेटर कंपनियों ने अपने ड्रामे (नाटक) प्रस्तुत करने शुरू किए। इन कंपनियों को डोगरा शासकों ने ना केवल प्रोत्साहन दिया बल्कि महाराजा की सरपरस्ती में कुछेक शौकीन नौजवानों ने मिलकर ''रॉयल इमैच्योरड ड्रामैटिक क्लब'' के नाम से एक क्लब की स्थापना की। जिस के द्वारा जम्मू-कश्मीर में अंग्रेज़ी, बंगाली तथा हिंदी के नाटककारों द्वारा लिखित नाटक उर्दू में प्रस्तुत किए जाने लगे। उर्दू ड्रामा के इतिहास में यह दौर विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इस काल में मुहम्मद उमर तथा नूर-इलाही ने ना केवल रंगमंच तथा ड्रामे की उन्नति पर ध्यान दिया बल्कि उसके महत्त्व एवं वरीयता में विशेष दिलचस्पी दिखाई। इन्होंने उर्दू भाषा में नाटक के इतिहास व आलोचना पर ''नाटक सागर'' लिख कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मुहम्मद उमर तथा नूर-इलाही दो ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने मिलकर नाटक के इतिहास और आलोचना पर काम किया। इन्होंने ड्रामों की रचना भी की और उन्हें अभिनीत भी किया तथा कुछ दूसरी भाषायों के ड्रामों को उर्दू में अनुवादित भी किया। इन दोनों कलमकारों ने जो ड्रामे लिखे हैं उनमें ''तीन टोपियां'', ''बिगड़े दिल'', ''जफ़र की मौत'', ''रूह-ए-सियासत'', ''सिकन्दर'', ''कज़ाक'', ''सात ड्रामे और सरूप'' बगैरा उल्लेखनीय हैं। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाशा में लिखित कुछेक नाटकों को उर्दू भाषा में अनुवादित भी किया है। इन में 'मुद्राराक्षस' और 'मृच्छकटिकम' प्रमुख हैं। इन्होंने 'नाटक कथा' भी लिखी है जिसमें प्राचीन हिंदोस्तानी नाटकों को प्रस्तुत किया गया है। इनके रेडियो ड्रामों में ''हमाँ खानदान आफ़ताब'' और ''आ बैल मुझे मार'' काफी लोकप्रिय हुए हैं।

जम्मू की तरह कश्मीर में भी थियेटर कंपनियों ने अपने ड्रामे प्रस्तुत किए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गावकदल में एक मंच तैयार किया गया। इसके साथ ही एक पेशावर कंपनी की भी स्थापना हुई जिसकी देख-रेख का सारा खर्चा धर्मार्थ महकमा वहन करता था परन्तु कर्मचारियों के आपसी मतभेदों के कारण इस कंपनी को भारी आघात पहुंचा और ड्रामा की तहरीक कमज़ोर पड़ गई।

आज़ादी के पूर्व जम्मू-कश्मीर में उर्दू ड्रामा को इन थियेटर कंपनियों के द्वारा काफी प्रोत्साहन मिला। सुयोग्य एवं सजग लेखक वर्ग ने इस विधा में अपनी कलम

का जादू जगाया। ''1933 ई. में कश्मीर के दीनानाथ वारेकू शाहिद ने ''दक्खनी हिरन'' नामक ड्रामा लिखा जो मार्तंड नाम के अखबार में सिलसिलेवार छपता रहा लेकिन अभिनीत न हो सका। इस दौर में जम्मू के जिन नाटककारों ने उल्लेखनीय नाटक लिखे उनमें आवर असकरी, अजीज़ काश, प्रो. महमूद हाशमी और जगदीश कंवल के नाम प्रमुख हैं। ''परदे के पीछे'', ''चार सौ बीस'', ''नौशते तकरीर'' और ''अंनारकली की वापसी'' इस दौर के सराहनीय ड्रामों में शामिल हैं। महमूद हाशमी ने ''अनारकली की वापसी'' इम्तियाज़ अली ताज द्वारा लिखित ड्रामा ''अनारकली'' के जवाब में लिखा था।

जम्मू व कश्मीर में ड्रामा या थियेटर को बढ़ावा देने में ''इप्टा'' ने विशेष भूमिका निभाई है। इस संगठन ने जिस तरह से देशभर में लोकमंच को जनप्रिय बनाने में अपना सहयोग प्रदान किया उसी तरह जम्मू-कश्मीर में भी थियेटर को लोकप्रिय बनाने में सराहनीय भूमिका निभाई। इस संगठन से जुड़े सुप्रसिद्ध कलाकार बलराज साहनी ने कश्मीर में ''इप्टा'' की एक शाखा स्थापित की जिसके लिए प्रेमनाथ परदेसी ने ''बतहर'' शीर्षक से कश्मीरी भाषा में एक ड्रामा लिखा, जिसे यद्यपि सरकार ने जब्त कर लिया परन्तु सरकार के इसी रुख के परिणाम स्वरूप यहाँ ड्रामे की तहरीक को उचित दिशा मिली।

1947 ई. में देश के विभाजन के साथ ही कबायली हमला हुआ और रियासत के हालात बहुत बिगड़ गए। हालात को सामान्य बनाने तथा उसमें स्थिरता लाने के लिए यहाँ के साहित्यकारों तथा कवियों ने मिलकर ''कल्चरल फ्रंट'' नाम से एक संगठन बनाया। जिसके बारे में डॉ. बृज प्रेमी लिखते हैं,'' यह फ्रंट एक तरह से इप्टा की तौसीअ था। इस फ्रंट के इलावा और कारनामों के स्टेज और ड्रामे की तहरीक का अहयाए-नो किया। बा-जाब्ता तौर पर ड्रामे लिखे जाने लगे और स्टेज होने लगे। कल्चरल फ्रंट बाद में ''ऑल स्टेट कांग्रेस'' में तब्दील हुआ''।

यह सांस्कृतिक एवं साहित्यिक लोगों का संगठन त्रिरुखी था। इसके शेयरो-अदब (साहित्य), मुसव्विरी (चित्रकला), तथा थियेटर (रंगमंच) तीन विभाग बनाए गए। थियेटर विभाग के अन्तर्गत प्रो. महमूद हाशमी द्वारा लिखित ड्रामा ''कश्मीर यह है'' अभिनीत किया गया जो कश्मीर में थियेटर व ड्रामा के इतिहास में मील पत्थर साबित हुआ। यद्यपि यह उर्दू ड्रामा था मगर इस के गाने कश्मीरी

थे और वातावरण भी कश्मीरी था। मगर इसमें इजाफा यह किया गया कि पहली बार इसके पात्र औरत व मर्द दोनों थे। महमूद हाशमी, ने इस दौरान और भी कई ड्रामे लिखे। थियेटर संगठन में जो प्रमुख लोग शामिल थे उनमें महमूद हाशमी, प्रेमनाथ परदेसी, दीनानाथ नादिम, प्राण किशोर, राजहंस खन्ना, अली मुहम्मद लोन, सलाहुद्दीन अहमद, कैसर कलंदर, ऊषा कश्यप, गिरधारी धर, मोहन लाल ऐमा और शीला भाटिया के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब को शिवदान सिंह चौहान का संरक्षण प्राप्त था। इस दौरान महमूद हाशमी द्वारा लिखित ड्रामों में ''आँख'' और प्रेमनाथ परदेसी के ड्रामों में ''मुजाहिद शेरवानी'' और 'सवाली' काफी लोकप्रिय हुए। परदेसी ने ''कदहा गोजवारी'' के शीर्षक से एक और नाटक लिखा जिसे कश्मीरी रूप देकर मंचित किया गया। ख़्वाजा अहमद अब्बास का ''चौदहां गोलियां'' ड्रामा भी उसी काल में खेला गया। ड्रामा में क्षेत्र में प्रेमनाथ परदेसी और महमूद हाशमी के पश्चात् सोमनाथ जुत्शी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने ग़ालिब से संबंधित ''नवाए-सरोश'' नाम से एक उच्चकोटि का नाटक लिखा।

1950 ई. के आस-पास का समय थियेटर तथा ड्रामा के इतिहास का सुनहरा काल माना जाता है। जिसमें जहाँ बहुत बढ़िया और उच्चकोटि के ड्रामे प्रस्तुत किए गए वहाँ रियासत में रेडियो कश्मीर के स्थापित होने पर लगातार ड्रामों का प्रसारण होना शुरू हो गया। यह सच है कि स्टेज और रेडियो ड्रामों में विशेष अंतर होता है मगर उद्देश्य की दृष्टि से कोई खास फर्क नहीं होता। मंच पर अभिनीत होने वाले ड्रामों में प्रत्यक्ष देखने व सुनने से अधिक रसास्वादन होता है जबकि रेडियो से प्रसारित ड्रामों में सुनने तथा एहसास कराने की जादुई शक्ति होती है। रेडियो-कश्मीर, श्रीनगर और जम्मू के स्टेशनों से अनगिनत ड्रामें प्रसारित हुए। जिसके फलस्वरूप जहाँ नाटक विधा को काफी तरक्की तथा प्रसिद्धि प्राप्त हुई वहाँ समाज को भी काफी लाभ हुआ।

रेडियो ड्रामे लिखने वालों में प्रेमनाथ परदेसी, नरसिंह दास नर्गिस, सोमनाथ जुत्शी, अख्तर महीयुद्दीन, राम कुमार अबरोल, ठाकुर पुंछी, ज़ेड सैमी, अली मुहम्मद लोन, नरहरि रायज़ादा, पुष्कर नाथ, विजय सुमन सोसन, दीनू भाई पंत, विजय सूरी जितेन्द्र शर्मा, बंसी निर्दोष, वेद राही,शबनम क्यूम वगैरा और बहुत से अन्य नाम ऐसे हैं जिन्होंने विषय एवं तकनीक को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने में विविध तज़ुरबे किए। सच्चाई तो यह है कि ड्रामा की तरक्की एवं लोकप्रियता में रेडियो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। क्योंकि इस रेडियो विभाग द्वारा मासिक प्रोग्रामों के

अतिरिक्त हर ''साल जश्ने तमशील'' के अन्तर्गत एक ड्रामाई हफ्ता मनाया जाता है। जिसमें अभिनीत होने वाले विभिन्न ड्रामों में से एक सर्वश्रेष्ठ ड्रामे का चयन कर उसे पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है। तदपश्चात् उसे नेशनल ''हुक अप'' पर पेश किया जाता है। ऐसा करने से ड्रामा विधा की उन्नति के साथ-ही-साथ अदाकारों की आर्थिक सहायता भी हो जाती है और उन्हें प्रोत्साहन भी मिलता है। इस दौर के ड्रामा लेखकों में अली मुहम्मद लोन का नाम अग्रणी लेखकों में आता है। वह मूलतः ड्रामा लेखक थे। उनके मशहूर ड्रामा ''घरौंदे'' ने अपने समय में धूम मचाई थी। उनके द्वारा लिखित अन्य ड्रामों में, ''चट्टान'', ''दीवाने का ख़्वाब'', ''महान'' और ''चिनार'' कला और तकनीक के हिसाब से उच्च कोटि के ड्रामे हैं। उन्होंने ''झील बुला रही है'' और ''हिमालया के चश्मे'' से दो-दो ओपेरे भी कलमबद्ध लिए हैं जिनको रियासती कल्चरल अकादमी ने देश-भर में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया और बेहद प्रशंसा पाई।

जब हम रेडियो ड्रामों से संबंधित बात करते हैं तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम पुराने कश्मीर की सेवाओं को हमेशा याद रखें, जिस में उनका निर्देशन एवं प्रस्तुति सराहनीय रही है। ड्रामा का इतिहास उनके उल्लेख के बिना अधूरा है।

अली मुहम्मद लोन से प्रभावित ड्रामा लेखकों में जेड-सैमी ने ''जहाँगीर की मौत'' नरहरि रायज़ादा ने ''पुराने दीप नए उजाले'', ''एक पत्थर एक महल'', ''पिंजरा'', ''हार की परछाई'' दीनू भाई पंत ने ''स्वर्ग की खोज'', राम कुमार अबरोल ने ''इंसाफ जीत गया'', ''धरती और हम'', ''चक्की के पाट'' सजूद सैलानी ने ''शाहकार'' और पुष्कर नाथ ने ''रूप-बहरूप'' जैसे ड्रामे लिखकर जिंदगी तथा इससे संबंधित अनेक समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान सुझाया है। कतिपय ड्रामा लेखकों ने हिंदोस्तान पर चीनी हमले की नुकताचीनी पर भी कुछ ड्रामे लिखे। विजय सुमन सोसन का ''अंगमान'' और बंसी निर्दोष का ''एक रात का मेहमान'' इसी विषय में लिखित ड्रामे हैं।

रियासत जम्मू-कश्मीर में उर्दू ड्रामा के विस्तार एवं तरक्की में जम्मू-कश्मीर अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ की सेवाएं भी सराहनीय हैं। इस विभाग द्वारा साहित्य की अन्य विधायों के साथ-साथ नाटक को भी काफी बढ़ावा मिला है, क्योंकि यह एकमात्र ऐसा विभाग है जो साहित्यकारों, नाटककारों को

अपनी कृतियों, रचनाओं आदि को प्रकाशित करने के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध कराता है। इसके अतिरिक्त उम्दा व सर्वश्रेष्ठ ड्रामा लेखक को पुरस्कृत भी किया जाता है। यह विभाग हर साल, उभरते कलाकारों एवं अदाकारों को सिखलाई के साथ-साथ वजीफे भी देता है। इसके द्वारा कई ड्रामा क्लबों को आर्थिक सहायता दी जाती है और उनके ड्रामा की प्रस्तुति के खर्च भी बरदाश्त किए जाते हैं। इतना ही नहीं अकादमी प्रत्येक वर्ष थियेटर वर्कशाप का आयोजन भी करती है जिसकी समाप्ति पर एक बढ़िया सा ड्रामा प्रस्तुत किया जाता है। अकादमी हर साल ''जश्ने ड्रामा'' का सप्ताह मनाती है इसके अतिरिक्त कई वर्षों से हर साल कल्चरल अदला बदली के तौर पर देश के विभिन्न हिस्सों में अन्य साहित्यिक प्रोग्रामों के इलावा नाटक और ओपेरे मंचित करने का प्रबंध भी करती है। अली मुहम्मद लोन के ओपेरे ''झील बुला रही है'' और ''हिमालया के चश्मे'' के अतिरिक्त जुबैरे रिजवी द्वारा रचित ओपेरा 'पिया बाज प्याला' भी देश-भर के विभिन्न शहरों में प्रदर्शित किया गया और कलाकारों ने जी-भर कर प्रशंसा प्राप्त की। अकादमी के टैगोर हाल श्रीनगर तथा अभिनव थियेटर जम्मू में भी मंच से संबंधित प्रत्येक आवश्यक सुविधा उपलब्ध कराई गई है ताकि यहाँ देश की अन्य भाषाओं संबंधी कार्यक्रमों के साथ-साथ उर्दू ड्रामे भी प्रस्तुत किए जा सकें। इस सुगमता के कारण लेखकों तथा कलाकारों को भी प्रोत्साहन मिला है।

रियासत जम्मू-कश्मीर में आधुनिक उर्दू ड्रामा को नए रंग-रूप में ढालने तथा उसकी तरक्की के सफर में जिन नाटककारों की भूमिका सराहनीय रही है उन में अली मुहम्मद लोन, बंसी निर्दोष, पुष्कर नाथ कौल, हृदय कौल भारती, हरिकृष्ण कौल, शकीलुर्रहमान, हामदी काश्मीरी, आफाक अहमद और फारूक मसूदी के साथ-साथ दिलकश मकबूल, सुज़ाद अहमद, खुशदेव मैनी और आनन्द 'लहर' जैसे कई नाम उल्लेखनीय हैं। इस सिलसिले में दूरदर्शन की सेवाओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। जिस के द्वारा नाटक के प्रसारण को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। रियासत के नाटक क्षेत्र की प्रगति में बलवंत ठाकुर का भी प्रमुख योगदान रहा है। उनकी नाट्य संस्था 'नटरंग' ने नुक्कड़ नाटकों और रंगमंचीय नाटकों को काफी लोकप्रियता दिलाई है। चुनांचे उपरोक्त विश्लेषण के बाद हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि जम्मू-कश्मीर में नाटक की लोकप्रियता साहित्य की अन्य विधायों की तुलना में किसी भी तौर पर कम नहीं आंकी जा सकती और दिन-प्रतिदिन नाटककारों की संख्या में जो बढ़ौत्तरी हो रही है वह निकट भविष्य में ड्रामा के उज्जवल भविष्य की ओर संकेत है।

संदर्भ-सूची

I. मुल्ला ग़नीमत नए रंगे-इश्क ब-हवाला इशरत रहमानी उर्दू ड्रामा का इरतका एजूकेशनल बुक हाऊस अलीगढ़-सफा :-38

II. इशरत रहमानी उर्दू ड्रामा का इरतक़ा। सफा :-38

III. डॉ. बृज प्रेमी ''जम्मू व कश्मीर में उर्दू अदब की नशोनुमा'' रचना पब्लिकेशन जम्मू-सफा :-99, 100, 101, 102, 105,

ooo

जम्मू-कश्मीर में उर्दू नाटक का इतिहास

❑ मूल. डॉ० प्रेमी रोमानी
अनु. नीरू शर्मा

नाटक एक प्राचीन कला है। इसे विभिन्न लेखकों ने वैदिक काल के साथ मिलाया है। कालिदास कृत शाकुन्तला नाटक आज भी संस्कृत-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।

पश्चिम में युनानी नाटक का जब विकास हुआ तो यह नाट्य कला अरस्तु के समय तक आते-आते उन्नति की मंजिल तक जा पहुँची इसलिए इस बात में दो राय नहीं कि रोमन काल में इस कला को अवनति का सामना करना पड़ा।

नाटक क्या है और जनता के लिए यह कैसे आकर्षण का कारण बन गया। इस विषय में कुछ लेखक लिखते हैं कि नाटक किसी घटना या कहानी को अमली तौर पर प्रस्तुत करने की कला है। घटना का व्यौरा नाटक को आकर्षक या अनाकर्षक बनाने में विशेष महत्त्व रखता है।

वास्तव में नाटक गति और अमल का नाम है। अरस्तु ने इसे अमल की नकल कहा है। जब भी नाटक के विकास पर दृष्टि डाली जाती है तो यूनानी नाटक के दो विशेष पहलू सामने आते हैं। इन्सानी ट्रेजडी और कामेडी, इसके साथ-साथ नाटक की सफलता का दारोमदार पात्र के चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण और पहनावे आदि पर आधारित होता है। नाटक के पात्र जितने सशक्त होते हैं, नाटक उतना ही सफल होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक की सफलता उसके सशक्त पात्र-चित्रण पर आधारित होती है।

उर्दू नाटक का जन्म यद्यपि विलंब से हुआ लेकिन इसके विकास के लिए नाटककारों, पात्रों, मंचकारों एवं संगीतकारों के योगदान को झुठलाया नहीं जा सकता। उर्दू नाटक की बात करें तो भांडों की नकल का उल्लेख आना स्वाभाविक ही है। ये भांड अपने अभिनय से लोगों को प्रभावित करने की कला से भली-भांती परिचित हैं।

मुल्ला गनीमत काश्मीरी अपनी फारसी मसनूई ''नए रंगे इश्क'' में भांडों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं– ''ये पेशेवार भांड शहंशाह आलमगीर औरंगज़ेब के अहद ए-सल्तनत में गाने-बजाने और नकलें करने का पेशा करते थे। ये ताइफे अमूमन बाजारों में घूमते-फिरते और दुकानों के सामने, बाजारों या चौक में नकलें किया करते। राहगीर तमाशाई उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाते और तमाशे के इख्तेताम पर एक-एक, दो-दो पैसे देकर उनका हक्के-खिदमत अदा करते। इस तरह ये लोग अपनी रोज़ी कमाते।''[2]

कश्मीरी भांड बहरूप बदलने एवं करतब दिखाने में निपुण थे। हाजिर जवाबी में इनका कोई मुकाबला न था। ये लोग अपने संवादों और करतबों से जनता का भरपूर मनोरंजन करते थे।

समय के साथ-साथ स्वांग, रामलीला, कृष्णलीला, कठपुतली, नौटंकी भी लोगों के मनोरंजन का कारण बने और इस तरह नाटक का शुभारंभ हुआ। नाटक के विकास में भारतीय जनता रंगमंच की भूमिका को भूल नहीं सकती। नाटककारिता के इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाए तो यह बात स्पष्ट होती है कि हमारे यहाँ नाटक का इतिहास बहुत पुराना है। डॉ० बृजप्रेमी अपनी पुस्तक में लिखते हैं– ''जमाना कदीम में भी हमारे यहाँ रक्स की महफिलों का चलन रहा है। इसका ताल्लुक किसी-न-किसी सूरत में ड्रामा के साथ है। कल्हण ने इंद्रप्रभा नाम की एक रकासा का ज़िक्र किया है जिसकी शौहरत दूर-दूर तक फैली हुई थी। चुनांचे जोध भट्ट और सोम पंडत का ज़िक्र हमारी तवारीखों में मिलता है, जिन्होंने ड्रामे लिखे।''[3]

जहाँ तक जम्मू-कश्मीर का संबंध है उन्नीसवीं सदी के अंत में रामलीला के चलन के साथ ही नाटक की नींव रखी गई। महाराजा रणवीर सिंह साहित्य और कला के शौकीन थे। इसीलिए उनके समय में शिक्षा और कला को प्रोत्साहन मिला था। कला, साहित्य, सभ्यता आदि की उन्नति में लोगों की दिलचस्पी बढ़ने लगी। और उनका पश्चिमी कला से भी परिचय हुआ। संस्कृत भाषा के कई शाहपारों का अंग्रेजी, फारसी, अरबी और उर्दू भाषा में भी इस्तेमाल किया गया। अनुवाद का काम भी तेजी से शुरू हुआ। यह सिलसिला महाराजा रणवीर सिंह के समय तक चलता रहा। महाराजा प्रतापसिंह के सिंहासनारूढ़ होते ही रियासत में कला, सभ्यता, शिक्षा बगैरा को बढ़ावा मिला। उर्दू भाषा और इसके गद्य और पद्य का भी विकास हुआ।

रियासत के बाहर से कई नाटक कंपनियां यहाँ आई और उन्होंने अपनी कला की धाक जमा ली। उन दिनों फारसी थियेटर की बड़ी धूम थी। इसके प्रभाव से

कई रंगमंचीय कंपनियां अस्तित्व में आईं। जिसके कारण नाटककारों, डायरेक्टरों, पात्रों की एक लंबी कड़ी भी सामने आई। जिन्होंने उर्दू नाटक को एक नई दिशा दी। तालब बनारसी, मास्टर रहमत अली, हसन लखनवी, बेताब बनारसी ने ना केवल नाटक लिखे अपितु उन्हें मंचित करके सफलता भी पाई। उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार आगाहश्र कश्मीरी ने कई शिक्षाप्रद नाटक लिखे। और यूं नाटक एवं मंच के इतिहास में एक नया दौर शुरू हुआ। उर्दू रियासत की सरकारी भाषा थी। इसलिए दूसरी भाषाओं के उच्चकोटिय नाटकों का अनुवाद उर्दू भाषा में किया गया। रियासत में नाटककारिता के क्षेत्र में कई नाम उभरे जिन्होंने नाटक को बढ़ावा दिया।

रियासत के कुछ नौजवान जो नौकरी एवं व्यवसाय के सिलसिले में बाहिर गये थे, उन्हें कई जगहों पर भारतीय नाटक देखने के अवसर मिले। धीरे-धीरे उनकी रंग-मंच में दिलचस्पी बढ़ने लगी। वापिस अपनी रियासत में आकर वे नाटक में विशेष रुचि दिखाने लगे। इसलिए बाहर से कई नाटक कंपनियां और रासलीला पार्टियां रियासत में आकर काम करने लगीं। रियासत में उर्दू नाटक के आरंभ के विषय में बृजप्रेमी लिखते हैं– "चुनांचे शुरू में जम्मू शहर में और बाद में श्रीनगर शहर में मुख़्तलिफ थियेटर कंपनियों की आमद शुरू हुई। जिन्हें डोगरा महाराजाओं की सरपरस्ती हासिल थी। चुनांचे मशहूर अंग्रेजी, बंगाली, हिंदी ड्रामानिगारों के अहम ड्रामे उर्दू के तोसत से पेश हुए। रियासत के बहुत से बा शौक फणकारों को हिंदोस्तान के मुख़्तलिफ शहरों में जाने का मौका फराहम हुआ था। जो हिन्दोस्तानी थियेटर में बाज ड्रामे देख चुके थे। चुनांचे उनके दिल में भी स्टेज अस्तवार करने लगी और उन्हें मकबूलियत हासिल हुई। हमारे नौजवानों ने भी इस शुबहे में अपनी सलाहितें अजमाने के मवाके तलाश किये।"[4]

इस बात से तो सारे परिचित हैं कि राज्य में थियेटर को शुरुआती दौर में किन-किन कठिनाइयों से जूझना पड़ा। परन्तु यहाँ के शौकीन कलाकारों ने थियेटर तहरीक को उभारने में जिस लगन, मेहनत और कुशलता से काम किया, वो सराहनीय है।

रियासत में नाटक क्षेत्र में मुहम्मद उमर और नूर इलाही का नाम उल्लेखनीय है। इनकी रचना "नाटक सागर" उर्दू नाटककारिता में विशेष स्थान रखती है। मुहम्मद उमर और नूर इलाही दोनों ही नाटक की कला से भली-भांति परिचित थे। ये दोनों रंगमंच से जुड़े रहे। इन्होंने बहुत से नाटक लिखे हैं। "नाटक सागर" इनकी बहुत प्रसिद्ध रचना है। ये रचना उर्दू नाटककारिता के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है। प्रो. अब्दुल कादिर सरूरी अपनी किताब "कश्मीर में उर्दू" भाग-2 में नाटक सागर की अहमियत को बताते हुए अपनी राय देते हैं– "साहिबज़ादा मुहम्मद उमर जिन्होंने नूर इलाही की शरकत में

उर्दू स्टेज और ड्रामा की तारीख़ पर अपनी तसनीफ नाटक सागर लिखकर शौहरत हासिल कर ली है–इस सदी के रब्बे अवल में रियासत और खासतौर पर जम्मू के अदबी हलकों की रूहेरवां बने रहे–इस किताब ने इन दोनों नामों को एक-दूसरे से ऐसा चस्पां कर दिया है कि बाज लोग इसे एक ही नाम समझते हैं।''[5]

मुहम्मद उमर अनुवाद की कला से भली-भांति परिचित थे और नूर इलाही भी एक सुलझे हुए नाटककार थे। इन्होंने कई नाटक लिखे। मुहम्मद उमर ने जब साहित्यिक क्षेत्र में कदम रखा तो उन्होंने कुछ अच्छे नाटकों पर आलोचनात्मक लेख भी लिखे। हकीम अहमद शजा के नाटक–''बाप का गुनाह'' पर इन्होंने आलोचना भी की। ''नाटक कथा'' को भी मुहम्मद उमर की प्रसिद्ध साहित्यिक रचना माना जाता है। ''हमा खानदान, आफ़ताब और आ बैल मुझे मार'' इनके नाटकों का उन्हीं दिनों प्रसारण हो चुका था। मुहम्मद उमर व नूर इलाही ने हिन्दी व संस्कृत भाषा के कुछ उल्लेखनीय नाटकों का उर्दू में अनुवाद भी किया। परन्तु इनकी प्रसिद्ध रचना नाटक सागर ही मानी जाती है।

डॉ० मंज़र आज़मी के अनुसार– ''यह उर्दू भाषा में नाटक का पहला आलोचनात्मक व इतिहासिक काम माना जाता है। जो 1924 में लाहोर से प्रकाशित हुआ। इस साहित्यिक काम पर उस समय की कई साहित्यिक एवं कलात्मक संस्थाओं ने इन्हें पुरस्कृत भी किया।''

मुहम्मद उमर और नूर इलाही से प्रोत्साहित होकर जम्मू-कश्मीर के कई योग्य साहित्यकारों में नाटक के प्रति रुचि पैदा होने लगी। इन नाटककारों में दीनानाथ वारकु, शाहिद कश्मीरी, जगदीश कंवल, नरहरि रायज़ादा, नरसिंह दास नरगिस, अज़ीज़ काश और अज़र असकरी के नाम उल्लेखनीय हैं। जिन्होंने स्वतंत्रता से पहले राज्य में उर्दू नाटककारिता को बढ़ावा देने में विशेष भूमिका निभाई। शाहिद का नाटक ''रुक्मणी हरण'' किस्तवार श्रीनगर के अखबार मारतंड में प्रकाशित हुआ– ''420, नोशतर, तकदीर और परदे के पीछे'' इसी दौर के उल्लेखनीय नाटक हैं। जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए या रंगमंच पर खेले गये। अजीज़ काश और अज़र असकरी ने नाटककारिता की कला को बढ़ावा देने के साथ-साथ कुछ स्तरीय कहानियां भी लिखीं। ये दोनों विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गये और वहाँ भी साहित्य सेवा में कार्यरत रहे।

इस बात का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है कि महाराजा प्रतापसिंह कला पारखी थे। उनके समय में जहाँ उर्दू भाषा की उन्नति के लिए अच्छा काम

होता, वहीं साहित्य की विभिन्न विधाओं की तरक्की के साथ-साथ कलाकारों, साहित्यकारों, संगीतकारों की भी हौसला-अफ़ज़ाई होती रही। इसलिए कई नाटक कंपनियां रियासत में सामने आईं और रासलीला की तरह कई नाटक भी मंचित किये गये। जिनकी प्रशंसा जनता ने की। धीरे-धीरे जनता की भी नाटकों में दिलचस्पी बढ़ने लगी। इन कंपनियों की उन्नति में धर्मार्थ ट्रस्ट का योगदान सराहनीय है। जिसे भुलाया नहीं जा सकता। कुछ समय बाद इस विभाग के कर्मचारी आपसी मतभेद का शिकार हो गए, जिससे कश्मीर में उर्दू नाटक को क्षति पहुँची परन्तु जम्मू के कलाकारों और नाटककारों ने अपने शौक के लिए बहुत परिश्रम, लगन और सूझ-बूझ से काम किया। जिससे नाटक प्रगति की राह की ओर अग्रसर हुआ।

रियासत के थियेटर को बढ़ावा देने के लिए इप्टा (IPTA) के रोल को भुलाया नहीं जा सकता। लोक रंगमंच से जुड़े कुछ प्रसिद्ध कलाकारों ने बलराज साहनी जी की सरपरस्ती में कश्मीर के कलाकारों के साथ मिलकर इप्टा की एक शाखा बनाई। यह शाखा रियासत में रंगमंच को बढ़ावा देने में कारामद सिद्ध हुई। बाद में एक नया थियेटर ग्रुप बनाया गया और केसर कलंदर के अनुसार इसने (बलराज साहनी) हमें एक नया थियेटर ग्रुप बनाने की योजना सुझाई। जिसने बाद में कल्चरल फ्रंट की सूरत इख़्तियार की।[7] प्रेमनाथ परदेसी का नाटक "बतहर" इसी दौर का एक यादगार नाटक है। यह नाटक कश्मीरी भाषा में लिखा गया था। परन्तु कुछ राजनैतिक कारणों से मंचित न हो सका।

1947 की घटना से प्रभावित होकर प्रेमनाथ परदेसी ने सवाली और मुजाहिद शेरवाणी के नाम से नाटक लिखे, जिन्हें कौमी कल्चरल फ्रंट ने मंचित किया और बहुत ही प्रसिद्ध हुए। उस दौर के कलाकारों, शायरों, नाटककारों में महमूद हाशमी, राजहंस खन्ना, शिव ध्यानसिंह चौहान, प्रेमनाथ परदेसी, सोमनाथ जुत्शी, कैसर कलंदर, अली मुहम्मद लोन, सलाहुद्दीन अहमद, ऊषा कश्यप, खुरशीद, नूर मुहम्मद रोशन, गिरधारी लाल दर, प्राण किशोर, सुमित्रा लखवारा, संतोष लखवारा, अचला सचदेव, दुर्गा सिंह और शीला भाटिया आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

प्रो० मुहम्मद हाशमी पहले नाटककार थे जिनका नाटक "कश्मीर यह है" उस समय मंचित हुआ और पसंद भी किया गया। वास्तव में रियासत में रंगमंच की नींव इसी नाटक से पड़ी। इसी नाटक में पुरुषों के साथ पहली बार स्त्रियों ने भी अभिनय किया। प्रो० हाशमी ने इसके बाद कई और नाटक लिखे जिन्हें लोगों ने काफी सराहा।

जुलाई 1949 में रेडियो कश्मीर श्रीनगर बनने से अच्छे और स्तरीय उर्दू नाटक भी रेडियो से प्रसारित होने लगे, जिससे नये-नये नाटककार सामने आए और नाटककारों के साथ-साथ लोगों की भी रुचि नाटक की ओर बढ़ने लगी। प्रसिद्ध साहित्यकार ख्वाज़ा अहमद का नाटक ''चौदह गोलियां'' इनका पहला नाटक है जो रेडियो-कश्मीर से प्रसारित हुआ। इस नाटक के साथ-साथ जिन नाटककारों ने इस विधा में दिलचस्पी दर्शायी और अच्छे नाटक लिखे उनमें करतार सिंह दुग्गल, डॉ० मुहम्मद हसन, डॉ० शकील-उल-रहमान, जितेन्द्र शर्मा, राही मासूम रज़ा, वेदराही, ठा० पुंछी, अली मुहम्मद लोन, कैसर कलंदर, सोमनाथ जुत्शी, बंसी निर्दोष, मोहन जावर, शबनम क्यूम, हामिद कश्मीरी, पुष्कर नाथ, अशफ़ाक अहमद के नाम लिए जा सकते हैं। इन्होंने कई शिक्षाप्रद नाटक लिखे जो रेडियो से प्रसारित भी हुए और कुछ मंचित भी किए गए। रेडियो जम्मू व कश्मीर से प्रसारित होने वाले कई नाटक राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए भी चुने गए। ''दो बालियां गेसू की, चिराग़ और साए, चिनार और सफर'' बगैरा नाटक सफल माने जाते हैं।

उर्दू नाटक को बढ़ावा देने में दूरदर्शन केन्द्र के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। दूरदर्शन के माध्यम से नए-नए साहित्यकार और नाटककार सामने आए हैं।

उर्दू नाटक की उन्नति के लिए जम्मू-कश्मीर की कल्चरल अकैडमी को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता। अकैडमी नाटक मंचित करने के लिए धनराशि देकर सहायता भी करती है। एवं अच्छे नाटकों को पुरस्कृत की करती है। डॉ० बृजप्रेमी रियासती कल्चरल अकैडमी के साहित्य की सेवा और उर्दू को बढ़ावा देने के संबंध में दिये जा रहे योगदान की सराहना करते हुए लिखते हैं- 'रियासती कल्चरल अकैडमी की खिदमात को भी उर्दू ड्रामे की तौसीह के सिलसिले में नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। यह इदारा बरसहा-बरस से ड्रामा के जश्न मनाता आ रहा है। इसके एहतमाम से कई ड्रामा क्लब बजूद में आए हैं। जिनको बाज़ा तौर पर माली इमदाद फरायम होती है। जिसमें ना सिर्फ स्टेज़ से ताल्लुक रखने वाले फणकारों को आगे बढ़ने के इमकानात मुहैय्या किये हैं बल्कि ड्रामा लिखने वालों की सलाहितों को भी उजागर किया है।[7]

बहुत से नाटककारों का रुझान कहानी लेखन की ओर था परन्तु उन्होंने नाटक लेखन को भी बढ़ावा दिया। ऐसे लेखकों में परदेसी, प्रेमनाथ धर, अली मुहम्मद लोन, बंसी निर्दोष, अख्तर महीयुद्दीन, हृदय कौल भारती, शकील उल-रहमान, हरि कृष्ण कौल, हामिद कश्मीरी, फारुक़ मसूदी, वेद राही, गुलाम रसूल संतोष, नूरशाह, पुष्करनाथ, रामकुमार अबरोल, विजय सूरी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। जिन्होंने

उर्दू नाटककारिता को चार चाँद लगा दिये। उर्दू नाटक के लिए जिन प्रोड्यूसरों ने परिश्रम अथवा लग्न से काम किया उनमें प्राण किशोर का नाम सबसे पहले लिया जाता है। वे स्वयं भी एक अच्छे नाटककार हैं और नाटक से जुड़े रहे हैं। उन्होंने दर्जनों नाटक लिखे जो रेडियो से प्रसारित भी हुए। ''जहाँगीर की मौत, स्वर्ग की खोज, पुराने दीये नए उजाले, ..., इंसान जीत गया, धरती और हम, चक्की के पाट'' आदि शिक्षाप्रद नाटक हैं। ये नाटक जेड सैमी, दीनू भाई पंत, नरहरी रायज़ादा, विजय सुमन, रामकुमार अबरोल ने लिखे हैं। इससे पता चलता है कि राज्य में नाटककारों की कमी नहीं है।

उर्दू नाटक में कुछ ऐसे भी उच्चस्तरीय नाटक हैं जो न तो प्रसारित हुए, न टेलीकास्ट और न ही मंचित हुए हैं। परन्तु विभिन्न पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि में छप चुके हैं। इससे हम इस निर्णय की ओर पहुंचते हैं कि उर्दू नाटक आज भी उन्नति की ओर अग्रसर है।

ooo

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *उर्दू असनाफ की तारबीन, ओंकार कौल, सफा 138*
2. *एक तन, सफा 142*
3. *जम्मू-कश्मीर में उर्दू अदब की नशोनुमा, डॉ० बृज प्रेमी, सफा 99*
4. *जम्मू-कश्मीर में उर्दू अदब की नशोनुमा, डॉ० बृज प्रेमी, सफा 100*
5. *कश्मीर में उर्दू (दूसरा हिस्सा) प्रो० अब्दुल कादिर सरवरी, सफा 471*
6. *महानामा तहमीर जम्मू-कश्मीर उर्दू अदब, जिल्द 14, शुमारा 2 सफा 12*
7. *महानामा आजकल नई दिल्ली कश्मीर नवंबर 1975 शुमारा 4 सफा दस*

गोजरी नाटक : एक जायज़ा

❑ मूल : मन्शा ख़ाक़ी
अनु० : नीरू शर्मा

नाटक साहित्य की एक विशेष विधा के अंतर्गत आता है। यह वह विधा है जो उस समय के सामाजिक वातावरण में आर्थिक जिंदगी के साथ जुड़े अधिकारों को पात्रों के माध्यम से चित्रित करती है। जिससे प्रत्येक पाठक, दर्शक एवं श्रोता अपने-आप को उस वातावरण के साथ जुड़ा हुआ महसूस करता है। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु नाटक को मानव प्रकृति की नकल कहते हैं। और यह सत्य भी है। क्योंकि मनुष्य के अपने भीतर का वातावरण बाह्य समाज से कम नहीं होता। उसके भीतर भी एक अपराधी, एक वकील, एक न्यायधीश, एक मज़लूम और उसका अपना ज़मीर होता है। जो उसे फैसलों से चेताता है। जब नाटक किसी नई कहानी को क्रम-बद्ध करता है या उसके पात्रों का चयन करता है तो वह अपना भीतरी निज़ाम इस्तेमाल किए बिना किसी निर्णय तक नहीं पहुंच सकता। नाटक में वर्णित घटनाओं का क्रमबद्ध होना इसलिए जरूरी होता है ताकि हर दूसरी घटना पहले की कोख से जन्मती हुई प्रतीत हो। और देखने, सुनने या पढ़ने वालों को प्रभावित भी करे। सफल रचना समाज की आंखों का वह आंसू है, जिसमें हर देखने वाले को अपनी आकृति दिखाई दे।

नाटक को तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है। कथानक, पात्र चित्रण, भाषा या कथोपकथन। नाटक का कथानक यानि कहानी का संकेत मात्र नाटककार के मस्तिष्क में होता है। वह उस कहानी में ही पात्रों को घुमाता-फिराता रहता है ताकि दूसरे और तीसरे हिस्से की ओर भी पूरा ध्यान दे सके।

दूसरी विशेष बात पात्र चित्रण की है। इसकी सफलता के लिए नाटककार को प्रत्येक पात्र के रूप में अपने-आप को उस वातावरण के अनुरूप ढाल कर परखना जरूरी होता है। तभी उसकी कोशिश प्रशंसा और प्रसिद्धि का कारण बन सकती है। कथानक में घटनाओं की संख्या जितनी कम होगी, वह नाटक नाट्य-कला के हिसाब से उतना ही सफल होगा। पात्र चित्रण करते समय हर पात्र की

आयु, योग्यता, शिक्षा, आर्थिक अवस्था आदि को नज़र में रखकर भाषा का चयन करना चाहिए। ताकि उसकी बातें, उसकी सोच, उसका स्वभाव, पहनावा, रहन-सहन और वातावरण आदि कुछ भी अनजाना-सा न लगे।

नाटककार को अपना नाटक खोजने के लिए अक्सर समाज और कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। और जब वह उसे खोज लेता है तो इतना पास जाकर उसका निरीक्षण-परीक्षण करता है कि साधारण व्यक्ति के लिए यह सब करना कठिन काम होता है। नाटककार की यही पैनी दृष्टि ही सही वातावरण को प्रस्तुत करने में समर्थ होती है। प्रत्येक कथानक अपने साथ स्वयं एक नया वातावरण, नयी सोच, नये अनुभव लेकर अस्तित्व में आता है। नाटककार तो केवल मात्र उचित ढंग से क्रमानुसार शब्दों का पहनावा पहनाता है। यदि वह पहनावा उसके शरीर पर जंच-जाए तो वह रचना एक यादगार रचना के रूप में पाठक एवं दर्शक के हृदय में विशेष स्थान प्राप्त कर लेती है।

नाटक कब और कैसे अस्तित्व में आया, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। नाटक लोक-साहित्य की एक पुरानी विधा के अंतर्गत आता है। इसलिए यदि यह कहा जाए कि यह विधा मानव जीवन की हमउम्र है तो यह कहना भी अनुचित न होगा। क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही खोजी और नकलची है। संसार के प्रत्येक तबके व कबीले में नाटक मौजूद है। यही कारण है कि गूजर कौम और गोजरी-भाषा भी नाटक का सहारा लिए बिना अपना सफर जारी न रख सकी।

लोक-नाटक की अपनी विशेषता है। इन नाटकों के कथानक अक्सर शिक्षाप्रद कहानियों पर आधारित होते हैं। इनके पीछे कोई-न-कोई उदेश्य अवश्य होता है। कभी अत्याचार के विरोध में प्रदर्शन, समाज में फैली हुई बुराइयों और कमियों की ओर संकेत, फिजूलखर्ची आदि का चित्रण अपने समाज के परिवेश को साफ-सुथरा बनाने की इच्छा से किया जाता है।

एक विशेष बात जिसे बताना उचित समझता हूँ, वह यह कि हमारे गूजर समाज में अलग से नौटंकी नहीं है। इसलिए बस्ती या कबीले में युवकों की एक टोली ने यह दायित्व संभाला है। वे स्वयं इसकी मुंह जुबानी कहानी बुनते हैं और रिहसल करके, अवसर मिलते ही किसी शादी-विवाह या उत्सव के अवसर पर लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। गूजर माहौल शहरी और देहाती माहौल पूर्णतया से भिन्न है।

विशेषतया हमारी रियासत में खानाबदोश गूजरों का सामना अक्सर 'ढोकों', 'बहकों', नदी-नालों, जंगल-बियाबानों, दैवी-प्रकोपों से होता रहता है। इसलिए इस वातावरण का चित्रण करते समय इन सारी बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

नहीं तो यह इसकी असफलता का कारण बन सकता है। लेकिन आज आम लोगों में शिक्षा संबंधी जागृति, लोगों की व्यस्तता, सिनेमा, रेडियो, टी.वी. और दूसरे मनोरंजन के साधनों के होते हुए यह लोक परंपरा कम होती जा रही है। दूसरा साहित्य में नये-नये अछूते विषय, नये तरीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण इस परंपरा का चलन कम हो रहा है।

गोजरी भाषा लिखित साहित्य के क्षेत्र में गुमनामी का चोला पहनकर लोगों के हृदयों तक ही सीमित रही, इसलिए नाटक और उपन्यास में यह भाषा अभी भी सहारों की मोहताज है। लगभग 1947 ई० के आस-पास गोजरी भाषा ने सोचों को अपना हाल जानने की दावत दी और इसमें साहित्य सृजन प्रक्रिया शुरू हुई।

'गोजरी' भाषा में पहला नाटक रज़ा महमूद साहब ने 'म्हारो पीर' लिखा था। यह कभी मंचित हुआ या नहीं, इस बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। लेकिन कहा जाता है[1] कि इससे पहले जनाब चूनी लाल शोला के आदेश पर मौलाना महरूलद्दीन कमर ने एक 'गोजरी' नाटक लिखवाया और उसे मंचित भी किया। इसके उपरांत 'गोजरी' में लिखित साहित्य की ओर रुझान पैदा हुआ तो इकबाल अज़ीम साहब ने एक नाटक 'गमां गी सलो' लिखा और जब 1969 में रेडियो कश्मीर श्रीनगर से 'गोजरी' कार्यक्रम शुरू हुआ तो उसी नाटक को सबसे पहले रेडियो के लिए रिकार्ड किया गया और बाद में मंचित भी किया गया।

'गोजरी' भाषा में एक नया रास्ता खुला और लोगों का उत्साह भी बढ़ा। अपनी माँ बोली का ऋण चुकाने के लिए एक के बाद एक इस टोली में सम्मिलित होते गए और एक कारवां बनता गया। सदियों के बाद फिर से साहित्य लिखा जाने लगा और लोगों की दिलचस्पी इसमें बढ़ने लगी। क्योंकि उन्हें अपनी मातृभाषा में मनोरंजन और जानकारी दिलाने वाले कार्यक्रम सुनने को मिले। रेडियो-कश्मीर, श्रीनगर और जम्मू से प्रसारित होने वाले इन कार्यक्रमों में गोजरी नाटक भी प्रसारित किए जाते थे।

इस सिलसिले को आगे बढ़ाने में गोजरी के हमदर्दों और बुद्धिजीवियों ने अपना पूरा सहयोग दिया। केन्द्रीय सरकार के निर्देशन पर रियासत जम्मू-कश्मीर में गूजरों की उन्नति के लिए रियासती सतह पर ''स्टेट एडवाइज़री बोर्ड फार डिवेल्पमेंट ऑफ गूजर एंड बकरबाल'' स्थापित किया गया। इस बोर्ड के माध्यम से गोजरी भाषा तथा संस्कृति की उन्नति के लिए रियासती विधानसभा तथा विधान परिषद् में आवाज़ उठाई गई। अतैव राज्य सरकार को 1978 में जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकैडमी में गोजरी विभाग खोलना पड़ा। इस विभाग के खुलने से गोजरी

भाषा तथा संस्कृति के किवाड़ खुल गए। आखिरकार राज्य सरकार को राज्य के संविधान के छटे शडयूल में 'गोजरी' भाषा को सम्मिलित करना पड़ा।

अकैडमी की ओर से राज्य के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में गोजरी भाषा में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम करवाये जाने लगे। इनमें से कुछ कार्यक्रमों में गोजरी के नाटकों को भी सम्मिलित किया जाने लगा। इसके साथ ही गोजरी नाट्य क्लब बनने शुरू हो गए। इनमें 'फिरदौस' ड्रामा क्लब आवारा कुपवाड़ा, निशात ड्रामा क्लब चंडक पुंछ, ज़फ़र ड्रामा क्लब धर्मसार राजौरी काबिले ज़िकर हैं।

पुंछ में बाबू नूर मुहम्मद नूर की नाटक को बड़ी देन है। उन्होंने नाटक के स्क्रिप्ट लिखने, के साथ-साथ इन नाटकों को मंचित भी कराया। आवारा कुपवाड़ा में चौधरी सराजुद्दीन तायर के साथ गुलाबुद्दीन तायर तथा मुहम्मद लतीफ फैयाज़ के सहयोग से यह काम सफल सिद्ध हुआ। इन नाटकों को अलग-अलग समय में विभिन्न कार्यक्रमों में मंचित किया गया। जिससे गोजरी नाटकों की एक परंपरा शुरू हो गई। फिर एक नया क्लब ज़फर ड्रामाटिक क्लब किल्लर शोपेइयां बना। राजौरी में अस्सर ड्रामाटिक क्लब सामने आया। इन क्लबों ने अपने सामर्थ्य और शिक्षा के अनुसार विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लिया। यह सिलसिला अकैडमी की सहायता से हुआ। इन क्लबों ने भिन्न-भिन्न नाटककारों के गोजरी नाटकों को राज्य में आयोजित साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कान्फ्रेंसों में मंचित किया। इतना ही नहीं इन क्लबों से जुड़े हुए नाटककारों और अदाकारों की ट्रेनिंग, हौसला अफ़ज़ाई, मान-सम्मान और आर्थिक सहायता करने में जम्मू-कश्मीर अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेज़िज ने मुख्य भूमिका निभाई है।

आरंभ में राज्य की अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेज़िज ने ही गोजरी नाटकों को रियासती सतह पर मंच दिया। क्योंकि इससे पहले जनता के लिए गोजरी भाषा में ऐसे स्तरीय नाटक देखने-दिखाने का कोई उचित प्रबंध नहीं था।[3] जम्मू के अभिनव थियेटर में पहली बार 1981-82 में दो दिवसीय गोजरी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कान्फ्रेंस का आयोजन किया गया। इस कांफ्रेंस में उत्तरी भारत के कुछेक राज्यों से गूजर नुमांयदे भी सम्मिलित हुए। और इस कान्फ्रेंस में एक नाटक ''वादी कश्मीर'' फिरदौस ड्रामाटिक क्लब आवारा कुपवाड़ा से और दूसरा जम्मू सूबा के निशात ड्रामाटिक क्लब चंडक् पुंछ की ओर से मंचित किया गया। जिसे लोगों ने बहुत सराहा। इससे गोजरी नाटक को एक उचित दिशा मिली और वह उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा।

नाटक में रुचि रखने वालों का रुझान उस ओर गया। अकैडमी की ओर से गोजरी नाटक को अधिक उन्नति की ओर ले जाने के लिए फील्ड असिस्टेंट गोजरी मिस्टर लतीफ खटाना को सरकारी खर्च पर ट्रेनिंग के लिए नैशनल स्कूल ऑफ ड्रामा नई दिल्ली भेजा गया। लतीफ खटाना की मेहनत और लगन ऐसा रंग लाई कि उसने वापिस आकर नैशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में नौकरी कर ली।

आज नाटक के क्षेत्र में उनक अपना नाम और स्थान है। अब गोजरी के नाटककार और अदाकार नाटक के फण और उसकी बारीकियों को भली-भांति जानते हैं। विशेषतया खानाबदोश गूजरों का वातावरण शहरी एवं ग्रामीण वातावरण से भिन्न है। इनकी खानाबदोश ज़िन्दगी में 'ढोकों', 'बहकों', जंगल-बियाबानो, दैवी-प्रकोपों से इनका सामना एवं दर्रों, पगडंडियों, नदी-नालों से माल-मवेशियों के साथ पैदल चलना और स्थानीय लोगों का इनसे व्यवहार, जिसमें प्यार-घृणा, दंगे-फसाद, "जिरगा" (कबीले) फैसला सब कुछ है और इसकी सही नुमायंदगी के लिए इनकी निजी जिंदगी में, निजी अनुभव बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं। दूसरे लोगों को भी इनकी कठिन एवं आर्थिक तंगी से उलझती ज़िंदगी देखने को मिलती है।

आजकल के नाटककारों में सर्वप्रथम चौधरी इक़बाल अज़ीम के अतिरिक्त बाबू नूर मुहम्मद नूर, चौधरी गुलाबुद्दीन ताहिर, चौधरी लतीफ फियाज़, चौधरी ए.के. सहराब, चौधरी हसन परवाज़, मास्टर मुहम्मद इकबाल ज़फर, डॉ० रफ़ीक़ अंजुम, चौधरी गुलाम रसूल असगर, चौधरी तारिक फहीम, चौधरी मुमताज रोबानी, हाजी खाकान सज्जाद, चौधरी शौकत नसीम और मुहम्मद शरीफ काज़ी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों को शीराज़ा गोज़री में प्रकाशित किया गया है।

रेडियो नाटकों को लिखने में जनाब इकबाल अज़ीम चौधरी, चौधरी अब्दुल हमीद करसाना, ए.के. सहराव, चौधरी हसन परवाज़, महमूद राणा, गुलाबुद्दीन ताहिर बगैरा के नाम लिए जा सकते हैं। अब दूरदर्शन से भी गोजरी नाटकों को कभी-कभार पेश किया जाता है। इन नाटकों को पेश करने में चौधरी हसन परवाज़, चौधरी गुलाम रसूल असगर, अनवर चौधरी, चौधरी अब्दुल गनी आरिफ, शौकत नसीम आदि अपना रोल निभा रहे हैं। अब तो इन नाटकों में गूजर अदाकारों को काम करते हुए दिखाया जा रहा है। पहले यह काम दूसरे अदाकार निभाते थे।

गोजरी भाषा में नाटक की उन्नति के लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी सतह पर कई नाटक वर्कशापों का आयोजन किया गया। ताकि आज के युवक को इस विधा से जानकारी के साथ-साथ इसकी ओर आकर्षित किया जा सके। एक और

दुख की बात यह है कि गोजरी में अलग से नाटकों की केवल एक पुस्तक ''चौन'' लेखक जनाब ए.के. सहराब ने लिखी गई हैं। जिसे जम्मू-कश्मीर अकैडमी की ओर से पुरस्कृत भी किया गया।

गोजरी नाटक सामाजिक भेदभाव, बुराइयों, आर्थिक तंगी में उलझी ज़िंदगी, शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े-पन, अपने व्यवसाय से जुड़ाव और देश-प्यार के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है।

ooo

लद्दाखी नाटक—एक समालोचना

❑ नवांग छेरिंग शकस्पो

लद्दाख जम्मू व कश्मीर राज्य का सबसे बड़ा ज़िला होने के साथ भाषा व साहित्य के दृष्टि से भी राज्य की सांस्कृतिक धरोहर है।

यहाँ का साहित्य प्राचीन होने के साथ सुसम्पन्न भी है। इसमें बौद्ध-साहित्य सम्बन्धित सैंकड़ों ग्रन्थ, काव्य तथा महाकाव्य सहित अनेकों नाटय-शास्त्र सम्बन्धित पुस्तकें उपलब्ध है। जिसका उद्गम लद्दाखी भाषा में संस्कृत से हुआ।

लद्दाखी भाषा जिसे भोट (Bhot) भाषा के नाम से भी जाना जाता है, सातवीं शती (7th Century) में नागरी लिपि को आधार मानकर-उस समय बौद्ध शिक्षा तथा संस्कृति का केन्द्र कश्मीर में तैयार किया गया था। फलस्वरूप बहुत सारे ग्रन्थ जो पूर्व में संस्कृत में थे, उनका भोट भाषा अथवा लद्दाखी में अनुवाद हुआ तथा आगे चलकर लद्दाखी साहित्य का अंग बना।

यही बात भोट नाट्य-शास्त्रों पर भी लागू होती है। लद्दाखी भाषा में उपलब्ध संस्कृत-नाटक उदाहरण के तौर पर नागानन्द, लोकानन्द, शकुन्तलम तथा मेघदूत लद्दाखी साहित्य का अभिन्न अंग है।

भोट साहित्य के अनुसार सर्वज्ञत्व अथवा एक ज्ञानी कहलाने के लिए पांच महाविद्याओं तथा पांच लघु विद्याओं में निपुण होना बताया है। इस प्रकार पांच महाविद्याओं में शब्द विद्या, अध्यात्म विद्या, शिल्प विद्या, चिकित्सा तथा हेतु विद्या आती है। तथा पांच लघु विद्याओं में छंद-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, अभिधान-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र आता है।

इस प्रकार से बौद्ध साहित्य में नाटयशास्त्र को निचले स्तर की विद्या की श्रेणी में रखा गया है। यही कारण है कि भोट साहित्यकारों ने नाटक लिखने की ओर ध्यान नहीं दिया तथा आज भी लद्दाखी नाटक ने अपनी सीमा को पार नहीं किया है ऐसा महसूस होता है।

फिर भी भोट साहित्य से ये ज्ञात होता है कि तिब्बत देश में नाटक खेलने तथा दिखाने की प्रथा सातवीं शती (7th Century) में राजा सोङ्च़न गम्पों (Song-tsan-Gampo) के शासन काल में हुई थी। ये उस समय की बात है जब राजा की शादी दो रानियों के साथ रची गई तथा मन्त्रियों ने उस पर्व पर नाटक रचवाया तथा राजा की दीर्घ आयु के लिए खुशियाँ मनाई। शायद ये परम्परा की शुरुआत थी।

ये जानकारी ल्हासा (Lhasa) स्थित पोताला (Potala) महल की दीवारों पर लिखे चित्रों से प्राप्त होती है।

इसी प्रकार जब आठवीं शती (8th Century) में राजा तीसोंङ देच़न (Ti-Song-De-Chan) ने तिब्बत के सबसे पुराने मन्दिर समये (Samye) का निर्माण कर लोगों के दर्शनार्थ खोला तो उस शुभ अवसर पर भी राजा ने नाटक का अयोजन करवाया।

इसके बाद 14वीं शताब्दी (14th Century) में थङतोङ-ग्यालेपा (Thang-Tong-Gyalpo) नाम के महासिद्धी का आगमन होता है, जिन्होंने इसी काल में मानव के हित व सुख के लिए तिब्बत देश में पचास (50) से अधिक लोहे के पुल बनवाये।

इस महासिद्धी ने अपनी योजना को सुचारू रूप से चलाने तथा दान जमा करने हेतु एक नाटक मण्डली की स्थापना की, जिनमें सात बहनें हिस्सा ले रही थीं जिनमें दो गायक, चार नृत्य तथा एक सुर मिलाने वाली तथा खुद महसिद्धी ड्रम बजाने वाले का पात्र अदा कर रहे थे।

महासिद्धी के इस प्रयोग का फल ये रहा कि बाद में सम्पूर्ण तिब्बत देश, नेपाल, हिमाचल प्रदेश के इलाके तथा लद्दाख क्षेत्र आदि में ल्हामो (Lhamo) छ़ोगस्पा (Tsogs-pa) के नाम से अनेक कईं नाटक मण्डलियां सामने आईं, जिन्हें मनेपा (Ma-ne-pa) के नाम से जाना गया।

इस मनेपा मण्डली ने अपने नाटक के प्रदर्शन हेतु जातक कहानियों का सहारा लिया।

जैसा कि सर्वविधित है, गौतम बुद्ध ने आज से दो हजार पांच सौ (2500) वर्ष पूर्व बोधगया में बुद्धत्व को प्राप्त करने से पूर्व सहस्त्रों बार जन्म लेकर इस संसारिक भव चक्र में फंसे मानव के सुख व दुख को समझने हेतु अनेकों रूप में जन्म लिए। इन लीलाओं को जातक माता के नाम से जाना जाता है, जो कि संस्कृत, पाली व प्राकृत भाषाओं के इलावा लद्दाखी अथवा भोट भाषा में भी उपलब्ध हैं। इन लीलाओं को

लद्दाखी भाषा में नमथर (Namthar) के नाम से जाना जाता है।

1960 के आस-पास लद्दाख में नाटक दिखाने हेतु जातक कहानियाँ को उपयोग में लाया गया। जातक लीलाओं पर आधारित नाटक धार्मिक होने से लोगों का ध्यान नाटक की ओर खींचने में उस समय के नाटक प्रस्तुतकर्ता-काछेन येशे तोन्डुप, टाशी रबग्यास, (Tashi Rabgais) तथा टाशी फुन्छोक ज़ोमदे (Tashi Phuntsog Zomdey) को किसी समस्या से जूझना नहीं पड़ा।

तथा जो भी पैसा इस धार्मिक नाटक को दिखाने से प्राप्त हुआ उसे उस समय के धार्मिक-स्थलों जिनमें मन्दिर, स्तूपे तथा अन्य पूजा-स्थलों के जिर्णोधार हेतु खर्च किया।

साठ के दशक में भी लद्दाख क्षेत्र का नाटक प्रदर्शित करने के वातावरण वही था, जैसा आज शेक्सपीयर के समय के नाटक को दिखाने के लिए तैयार किया जाता है।

उस समय न बिजली थी, न कपड़े जिससे स्टेज के लिए पर्दे तैयार किए जाएं। पेट्रोमेक्स अथवा लालटेन से रोशनी करके दो से चार घन्टे तक गौतम बुद्ध की लीलाओं को दिखाते थे तथा दर्शक भी इन लीलाओं को बड़े ही प्रेम तथा श्रद्धा से देखते तथा अपने को भाग्यशाली मानते थे।

समय के गुज़रने तथा लेह को श्रीनगर के साथ स्थल-मार्ग से जोड़ने तथा लद्दाख के नवयुवकों का श्रीनगर तथा जम्मू जैसे शहरों में आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के साथ लद्दाखी समाज में बदलाव तथा जागरूकता नाटक क्षेत्र में भी देखने को मिली, जो आगे चलकर नाटक दर्शाने के स्तर को बढ़ाने के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। लेह में दो हाल बनाये गए जिन्हें सिनेमा दिखाने के साथ ड्रामा दिखाने के उपयोग में भी लाया जाने लगा।

70 के दशक में जम्मू व कश्मीर अकादमी की लेह शाखा की स्थापना के साथ अनेक नाटक मंडलियां बनीं, जिनमें लमडोन (Lamdon) तथा नमसोस (Namsos) नाटक मण्डलियां प्रमुख हैं। इन नाटक मण्डलियों ने भी जातक लीलाओं को आधार मानकर अनेकों बुद्ध लीलाएं प्रदर्शित की तथा अकादमी द्वारा अयोजित ड्रामा (festival) आदि में प्रमुख रूप से भाग लिया।

अस्सी के दशक में अनेकों नाटककारों ने ऐतिहासिक तथा सभाजिक समस्याओं को आधार मान कर नाटक लिखे, जिनमें डॉ० जमयग ग्यालछन (Jamyang

Gyaltsan) तथा गेंलोग थुपस्तान पलदान (Gelong Thupstan Paldan) प्रमुख हैं।

गेलोग छे़वांग रिग्ज़िन (Gelong Tsewang Rigzin) ने भी उसी काल में सम:ज़िक समस्याओं को लेकर–'समय की पुकार' नाटक लिखा, जिसे अकादमी द्वारा अयोजित Drama Festival में मंचित किया गया और अकैडमी की ओर से श्रेष्ठ नाटक लेखन पर इसे पुरस्कृत भी किया गया। इसके साथ दर्जनों नाटक समाजिक पहलुओं को लेकर तथा अन्य लेखकों द्वारा लिखे व प्रदर्शित किए गए।

सन् 1976 से जम्मू और कश्मीर अकादमी की लेह शाखा ने अपनी वार्षिक पुस्तक 'लोखोर गी देप' Lo-Khor-gi-dep तथा सन् 1979 से शीराज़ा लद्दाखी का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 1976 से लेकर आज तक अकादमी ने अपनी वार्षिक पुस्तक में दर्जनों नाटक आधुनिक साहित्यकारों के लिखे प्रकाशित किए हैं।

70 के दशक में अकाशवाणी लेह की स्थापना के साथ रेडियो ड्रामा का प्रसारण भी आरम्भ हुआ। यही नहीं रेडियो ने कई बार रेडियो ड्रामा प्रतियोगिता का भी अयोजन कर कई अच्छे नाटककारों को आगे बढ़ने का मौका दिया। इस प्रकार लद्दाख के प्रमुख रंगकर्मीयों में मोरूप नमग्याल (Morup Nomgail) फुन्छोक छेरिंग (Phuntsag Tsering) तथा मिपम ओतसल (Mipam Othsal) अग्रणी रहे हैं।

मोरूप नमग्याल जो कि अकाशवाणी लेह से सम्बन्धित हैं, लमडोन (Lamdon) ड्रामा क्लब कायम कर 80 के दशक में लद्दाख के रंगमंच पर छाये रहे। यही नहीं इन्होंने बहुत सारे रेडियो-नाटक तैयार कर तथा प्रसारित कर लद्दाख के समाज में फैली कुरीतियों को हटाने के लिए सराहनीय कार्य किए।

इसी तरह स्वर्गीय फुन्छोक छेरिंग ने नमसोस ड्रामा क्लब स्थापित कर धार्मिक व समाजिक पहलुओं पर अधारित अच्छे ड्रामे पेश किए। और रंग-मंच को नयी दिशा दी।

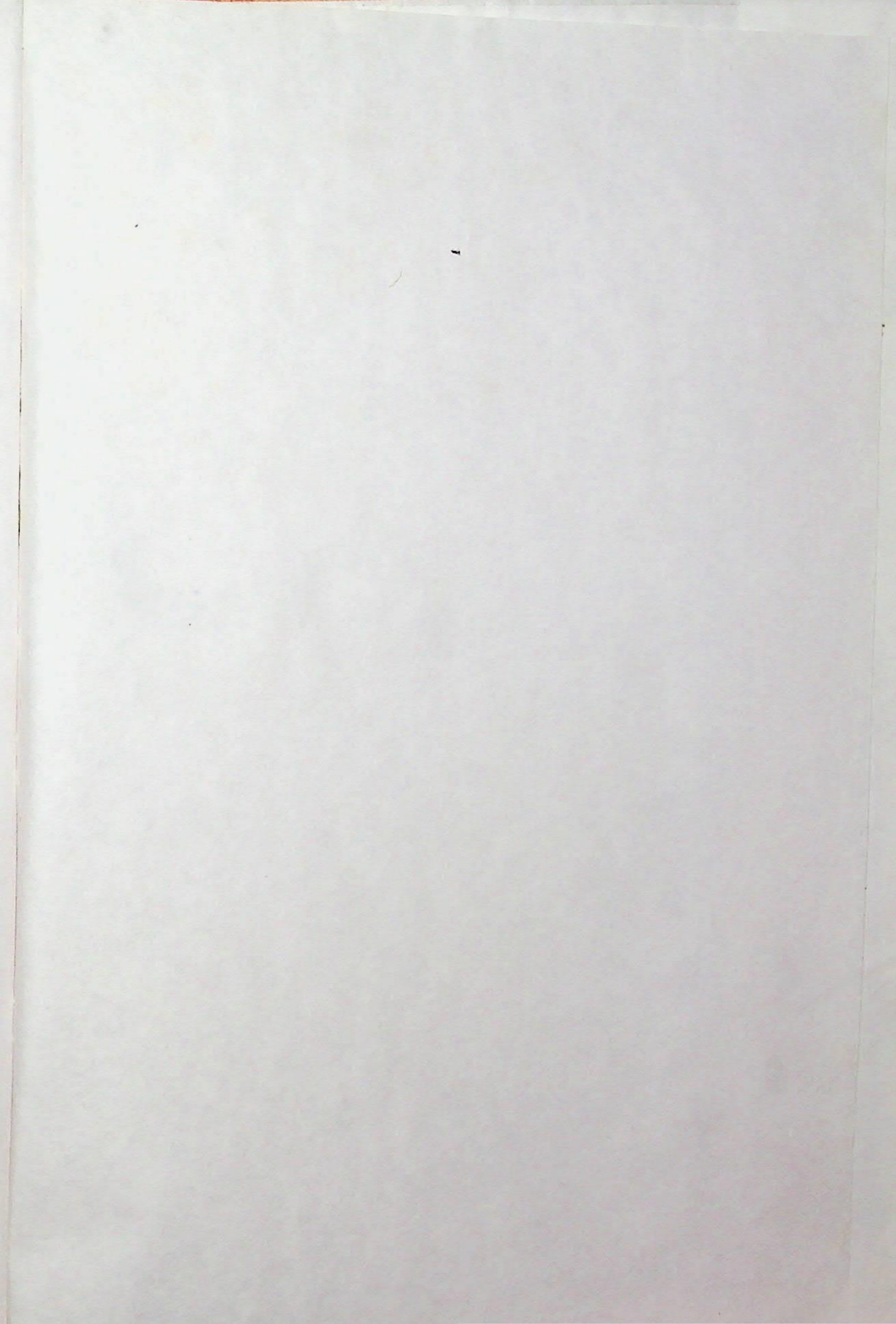
मिपम ओतसल, जिनका सम्बन्ध अकादमी से है, Ladakh Theater Organisation के तत्वादान में इन्होंने अनेक ड्रामा तैयार कर लद्दाख के रंगमंच को नयी चेतना दी।

विगत कुछ वर्षों से जम्मू और कश्मीर अकादमी ने भी वार्षिक ड्रामा उत्सव का अयोजन त्याग दिया है। इससे उभरते रंगमंच कर्मियों के कार्य व उत्साह पर रोक सी लग गई है।

अकाशवाणी का लेह केन्द्र भी ड्रामा के क्षेत्र में सुस्त-सा पड़ गया है। ड्रामा तय समय पर नश्र न करके नाइन्साफी हो रही है।

और दूसरी ओर टेलिविजन के आने से व तरह-तरह के सिरीयलों के टेलीकास्ट करने से ड्रामा तैयार करने हेतु विराम-सा लग गया है इसलिए जल्द कोई सराहनीय कदम अकादमी, रेडियो तथा सरकार के तालमेल से न उठाया गया या कोई अच्छी योजनाएं नहीं बनाई गईं तो लद्दाख जैसे क्षेत्र में नाटक का भविष्य उज्जवल न बन पाएगा क्योंकि लद्दाख जिसकी भाषा तो समृद्ध है लेकिन ड्रामा कार्यकर्ताओं का उत्साह अब क्षीण-सा होता दिखाई पड़ रहा है।

०००







Published by the Secretary on behalf of
J&K Academy of Art, Culture and Languages, Jammu
and Printed at Rohini Printers, Kot Kishan Chand, Jalandhar City (Punjab)